पातंजलि योग का तत्त्वदर्शन

— श्रीराम शर्मा आचार्य

पातंजलि योग का तत्त्वदर्शन

✡

लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

डॉ० प्रणव पंड्या (एम. डी.)

✡

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१२ मूल्य : १२.०० रुपये

प्राक्कथन

पातंजलि योग को राजयोग कहा जाता है। उसके आठ अंग, आठ भाग हैं। इन आठ अंगों की गणना इस प्रकार होती है—(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान (८) समाधि। आवश्यक नहीं कि इन्हें एक के बाद ही दूसरे इस क्रम में प्रयोग किया जाए। साधना विधि ऐसी बननी चाहिए कि इन सभी का मिला-जुला प्रयोग चलता रहे। जिस प्रकार अध्ययन, व्यायाम, व्यापार, कृषि आदि को एक ही व्यक्ति एक ही समय में योजनाबद्ध रूप से कार्यान्वित करता रह सकता है। उसी प्रकार राजयोग के अंगों को भी दिनचर्या में उनका स्थान एवं स्वरूप निर्धारित करते हुए सुसंचालित रखा जा सकता है।

यम पाँच हैं—(१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय (४) ब्रह्मचर्य (५) अपरिग्रह। इसी प्रकार नियम भी पाँच हैं—(१) शौच (२) संतोष (३) तप (४) स्वाध्याय (५) ईश्वर प्राणिधान। आसन ८४ बताए गए हैं। प्राणायामों की संख्या भी बढ़ी-चढ़ी है। यम नियम तो अनिवार्य हैं, पर शेष क्रिया योगों में से अपनी सुविधानुसार चयन किया जा सकता है।

आमतौर से इस साधना का क्रिया पक्ष ही पढ़ा-समझा जाता है। उसके पीछे जुड़ा हुआ भाव पक्ष उपेक्षित कर दिया जाता है, यह ऐसा ही है जैसे प्राणरहित शरीर का निरर्थक होना। इस पुस्तक में पातंजलि राजयोग के सभी पक्षों पर तात्त्विक प्रकाश डाला गया है ताकि उसके सर्वांगपूर्ण स्वरूप से अवगत हुआ जा सके।

—लेखक

अहिंसा और उसकी परिधि

अहिंसा को धर्म धारणा में प्रमुख स्थान दिया गया है। किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना साधारणतया अहिंसा का प्रकट अर्थ समझा जाता है, पर बात इतने भर से नहीं बनती। अहिंसा निषेधात्मक है, उसका विधेयात्मक पक्ष दया, करुणा, सेवा, सहायता के रूप में उदित होता है। इस हेतु कुछ करना पड़ता है, करने से ही पुण्य बन पड़ता है, न करने पर भावना मात्र से एक कल्पना ही मन पर छाई रह जाती है। उसे यदि चरितार्थ होने का अवसर न मिले तो मात्र संवेदना में औचित्य का समावेश रहते हुए भी उसका कोई प्रत्यक्ष प्रतिफल प्रस्तुत न हो सकेगा।

स्थूल अहिंसा का पालन तो पेड़-पर्वत भी करते हैं, वे किसी को कष्ट नहीं पहुँचाते, यह उनकी जड़ताजन्य विवशता है। ऐसी दशा में उन्हें अहिंसक होने का श्रेय नहीं मिल सकता। प्रकृति के सभी पदार्थ ऐसे हैं, जो अपनी जगह पर स्थिर रहते, अपने निर्धारित चक्र पर भ्रमण भर करते रहते हैं। उनमें वह भावना नहीं रहती जो सचेतन में पाई जाती है। ऐसी दशा में जानबूझ कर हिंसा नहीं करते, उनसे टकराकर कोई अपना पैर तोड़ ले तो उनकी मर्जी।

कृमि-कीटकों पर भी अहिंसा का आदेश लागू नहीं होता, उनमें से अधिकांश माँसाहारी प्रकृति के होते हैं। अपने से छोटों को मारते खाते रहते हैं, उनकी प्रकृति को नहीं बदला जा सकता है कि अपने लाभ के लिए दूसरों को हानि न पहुँचाएँ। लाभ-हानि तक का उन्हें विचार नहीं होता और न उन्हें यह सूझ पड़ता है कि उनकी किस क्रिया से किसी को क्या कष्ट होगा ? छिपकली, मकड़ी आदि घरेलू कीड़े अपने से छोटों को मारते खाते रहते हैं। बड़ी मछली भी छोटी मछली को खाती देखी गई है। बिल्ली, व्याघ्र, मगरमच्छ, सर्प, बाज जैसे प्राणी भी मांसाहारी होते हैं। भूख लगने पर वे अपना शिकार

पकड़ते और उदरस्थ करते रहते हैं। उन तक अहिंसा का संदेश पहुँचना या पहुँचाया जाना कठिन है।

मनुष्य भावनाशील है और विवेकवान् भी, उसे उचित-अनुचित का बोध आरंभ से ही मिला है। सहकारी प्राणी होने के नाते उसके लिए नीति-नियम भी यही हैं कि दूसरे के साथ वैसा ही व्यवहार करे जैसा दूसरों से अपने लिए चाहता है। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। सज्जनता बरतने वाले बदले में वैसा सद्व्यवहार अनेकों द्वारा अपने साथ होते देखते हैं। दुष्टता की प्रतिक्रिया भी आक्रोश-प्रतिशोध में होती है, इसलिए अपने को त्रास न सहना पड़े। इसका एक ही सही तरीका है कि दूसरों के साथ दुर्व्यहार न किया जाए अन्यथा प्रतिक्रिया एक नहीं तो दूसरे तरीके से होगी और अपना क्रिया-कृत्य शब्दबेधी वाण की तरह उसी तरकश में लौट आएगा जहाँ से निकालकर उसे फेंका था। रबड़ की गेंद जितने जोर से जिस ऐंगल से फेंककर मारी जाती है, वह टकराने के बाद वापिस उसी स्थान को उसी वेग से उसी ऐंगल पर वापस लौटती है—यही नियम सर्वत्र चलता है। सज्जनो को सहयोग और सम्मान मिलता है जबकि दुष्ट-दुर्जन बदले में प्रतिशोध और तिरस्कार पाते हैं। इसलिए दूरदर्शी विवेकशीलता का भी यही तकाजा है कि दूसरों के साथ सद्व्यवहार करने में ही अपना भला समझा जाए और वैसा ही आचरण करने के लिए मानस बनाया जाए। अहिंसा इस दृष्टि में आत्मरक्षा की ढाल सिद्ध होती है, दूसरों के प्रति उदार रहकर प्रकारांतर से अन्यों को अपने साथ सद्व्यवहार करने के लिए आमंत्रित किया जाता है। हिंसा पर उतारू होकर उसकी प्रतिक्रिया से बचा नहीं जा सकता, जिसे सताया गया है, वह दुर्बल एवं प्रतिशोध में असमर्थ हो सकता है। किंतु दूसरी शक्तियाँ भी तो संसार में मौजूद हैं। वे उस अन्याय का बदला लिए बिना न छोड़ेगी, इसीलिए जिन्हें चैन से रहना अभीष्ट है उन्हें दूसरों को भी चैन से रहने देना चाहिए।

अहिंसा का सृजनात्मक पक्ष है आत्मीयता। अपनों के साथ दया, करुणा का सद्भाव और ममता का व्यवहार ही बन पड़ता है। माता-पिता अपने बच्चों के प्रति अनवरत स्नेह लुटाते हैं और वे

उनके साथ सेवा-सहायता का व्यवहार सहज स्वाभाविक करते रहते हैं। यह सब उनसे सहज स्वभाव बन पड़ता है। अहसान जताने, पुण्य करने जैसा कोई भाव उनके मन में नहीं उठता। यही भावना संकीर्णता की परिधि से आगे निकलकर जब विराट के साथ संबंध जोड़ती है तो सभी अपने बन जाते हैं। जो अपना है वह स्नेह, सद्भाव, सहायता का पात्र बन ही जाता है। आत्मीयता का ही एक पक्ष दया और करुणा है। यह भी विकसित मानस में सहज स्वभावतः चल पड़ता है। सहायता का बदला सहायता के रूप में मिलते देखकर प्रेम का प्रत्युत्तर प्रेम में पाकर प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता। इस प्रकार का अहिंसा का प्रतिफल हाथोंहाथ मिलता है। यह नकद धर्म है जिसके आधार पर 'जियो और जीने दो', 'बढ़ो और बढ़ने दो' का सिद्धांत सहज ही चरितार्थ होता चला जाता है।

अहिंसा में विक्षेप उचित कष्ट से नहीं होता। अहिंसा में कष्ट नहीं औचित्य मुख्य है। डाक्टर अस्पताल में ढेरों रोगियों की शल्य-क्रिया करता रहता है, कितनों को वह सुई चुभाता है। मोटी दृष्टि में यह हिंसा हुई, पर वस्तुतः ऐसा है नहीं। उद्देश्य रोगी के प्रति दया भाव होने के कारण ऊँचा ही रहा, ऐसी दशा में तात्कालिक पीड़ा का कोई महत्त्व नहीं रहा। देखा यही गया कि रोगी को राहत किसमें है ? हित कामना को देखते हुए कष्ट पहुँचाने की भी गुंजाइश है। न्यायाधीश अभियुक्तों को फाँसी की सजा देता है, इससे समाज व्यवस्था का संरक्षण होता है। यदि उस अपराधी को क्षमा कर दिया गया होता तो खुला रहकर न जाने कितनों की हत्या करता, कितनी अव्यवस्था फैलाता ? इस तथ्य को ध्यान में रखकर यदि न्यायाधीश ने मृत्यु दंड दिया और अपराधी को कष्ट हुआ तो इसके लिए क्या किया जा सकता है ? अहिंसा को रूढ़ि मानकर न्याय और विवेक को झुठलाया तो नहीं जा सकता।

अहिंसा में विवेक को भी जुड़ा रखना पड़ता है, आत्मरक्षा में हिंसा भी अपनाई जा सकती है। घर पर डाकू आक्रमण करे तो उनका सामना करना ही पड़ेगा, भले उनमें से कोई आक्रांता मारा ही क्यों न जाए ? घर में पलने वाले सांप-बिच्छुओं पर कब तक दया करते रहा जाएगा ? चूल्हे में आग जलाते समय, यात्रा में चलते समय, धूप में कपड़े सुखाते समय, यहाँ तक कि साँस लेते समय भी कुछ जीव मर सकते हैं, इनकी

रक्षा किया जाना असंभव है। ऐसे तो वनस्पति को भी जीव माना जाने लगा है। आहार के लिए शाकाहार-जलाहार तो ग्रहण करना ही पड़ेगा। इसके बिना जीवन संभव नहीं है—ऐसी अनिवार्य हिंसाओं पर विचार नहीं किया जा सकता।

हिंसा वहाँ से आरंभ होती है जहाँ दूसरों को पराया समझकर अपने संकीर्ण स्वार्थ की सिद्धि के लिए अनीतिपूर्वक दूसरों को कष्ट पहुँचाया जाए। जिनसे निर्दोषों को उत्पीड़न सहना पड़े, जिसके साथ अनीति का आधार जुड़ा हुआ हो।

हिंसा शारीरिक आघात तक ही सीमित नहीं है, उसका मानसिक आघात भी एक पक्ष है। अपमान, तिरस्कार, दुर्व्यहार भी हिंसा का ही एक रूप है। जिससे मन को, सम्मान को आघात लगे उसे भी हिंसा ही कहा जाएगा। किसी को गलत परामर्श देकर कुमार्ग पर चलने के लिए सहमत कर लेने पर तत्काल न सही—परिणाम सामने आने पर तो कष्ट उठाना ही पड़ता है। इस प्रकार का जिसने कुचक्र रचा उसे भी हिंसक ही कहा जाएगा।

हिंसा से तात्पर्य है अन्यायपूर्वक उत्पीड़न। मात्र शारीरिक या मानसिक कष्ट पहुँचाना हिंसा नहीं है, कुकर्मियों और कुमार्गगामियों को जब समझाने-बुझाने से सही राह पर लाना संभव नहीं तब दुरात्माओं का अहंकार, दुराग्रह और आतंक चरम सीमा तक पहुँच जाता है तो वे दया, क्षमा को कर्त्ता की दुर्बलता-कायरता मानते हैं और इस प्रकार के सौम्य व्यवहार को अपनी जीत मानकर अनीति पर और भी अधिक वेग के साथ उतरते हैं। ऐसी दशा में प्रताड़ना के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह जाता। विनम्रता और उदारता मात्र सज्जनों के साथ बरती जाने पर सफल होती है, हृदयहीनों पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जिनका कुकर्म करते-करते मानस परिपक्व हो गया है, जिनकी प्रवृत्ति कसाई जैसी बन गई है उनके सम्मुख सज्जनता का, क्षमा, दया का कोई मूल्य नहीं। शठता को शठता की भाषा ही समझ में आती है, उन्हें सुधारने के लिए जो विवेकपूर्ण हिंसा प्रयुक्त की जाती है, उसे भी अहिंसा ही कहना चाहिए।

❑ ❑

सत्य की समग्र साधना

सत्य को धर्मशास्त्रों में प्रथम स्थान मिला है। उसकी महिमा में बहुत कुछ कहा गया है, बताया गया है कि इस एक व्रत के पालन करते रहने पर अन्य सब व्रत भी सध जाते हैं इसलिए धर्म का मूल सत्य को माना गया है। असत्य और अधर्म पर्यायवाची कहे गये हैं।

सत्य पालन का मोटा अर्थ सच बोलना समझा जाता है, पर वस्तुतः सत्य का तात्पर्य तथ्य से है। जो तथ्य है वही सत्य है—यह कृत्य मात्र वाणी से संपन्न नहीं हो जाता वरन् वचन के द्वारा उसका एक छोटा उपचार ही बन पड़ता है। सत्य शोध का विषय है, उसका उद्देश्य है अपनी मान्यताओं और प्रवृत्तियों को सत्य की यथार्थता के अनुरूप बनाया जाए। यह एक दार्शनिक प्रक्रिया है, इसमें प्रचलनों एवं परंपराओं से ऊँचे उठकर यथार्थता की गहराई तक पहुँचना पड़ता है। यह कार्य कठिन है क्योंकि हम वातावरण के अनुरूप भ्रांतियों में असाधारण रूप से जकड़े होते हैं। जैसा देखा-सुना है उसी के अनुरूप मन बना लेते हैं, वैसा ही आचरण करने लगते हैं। इस अन्वेषण की आवश्यकता नहीं समझते कि जो अपनाया जा रहा है वह वास्तविक है भी या नहीं, उसका परिणाम वैसा ही हो सकता है या नहीं जैसा कि चाहा गया था।

पूर्ण सत्य को जानने और अपनाने के लिए आत्मशोधन की नए सिरे से साधना करनी पड़ेगी। कारण कि हमारे जीवन के गुण स्वभाव, चिंतन, चरित्र-व्यवहार के सभी पक्ष भ्रांतियों और अवास्तविकताओं के आधार पर अवलंबित हो गये हैं। उनमें तथ्यों का कम और अंध-परंपराओं का भाग अधिक है। कारण यह कि अनादिकाल से मनुष्य को सीमित बुद्धि बल से काम चलाना पड़ा है। उसमें मन तो काम करता था, पर वास्तविक-अवास्तविक का वर्गीकरण विश्लेषण कर सकने वाली बुद्धि का विकास एक छोटे

परिणाम में ही विकसित हो पाया था। इसलिए संसार में जो कुछ दीख पड़ा उसके संबंध में उसी रूप में कल्पना कर ली, मान्यता बना ली। हलचलों के साथ जुड़ी हुई सभी घटनाओं को किन्हीं देव-दानवों से प्रेरित माना जाने लगा। अग्नि, वरुण, बादल, सूर्य, चंद्र, तारे, आँधी-तूफान जब वेगवान् गति से कार्य करते दिखाई पड़े तो उन्हें शक्तिशाली व्यक्तित्व की मान्यता दी गई। जन्म और मरण की असाधारण घटनाओं को भी दैवी वरदान या अभिशाप की तरह आँका गया। उन दिनों मनुष्य के मन पर देव-दानवों का ही साम्राज्य छाया हुआ था, उन्हें उनका कोप शांत करके दुर्घटनाएँ रोकने, उन्हें प्रसन्न करके सुविधाएँ बढ़ाने की कला का आविष्कार हुआ। पूजा-अनुष्ठानों के अनेकानेक विधि-विधान इसी आधार पर चल पड़े। अब विज्ञान और बुद्धिवाद के विकास ने नई मान्यताएँ दी हैं। यह सब प्रकृतिगत हलचलें, ज्वालामुखी फूटना, भूकंप आना किसी देवता की आक्रोश सूचक क्रियाएँ नहीं हैं वरन् प्रकृतिक्रम का एक साधारण-सा उपक्रम है। ऐसी दशा में दैववाद और उनके पूजा-विधान का आधार हिल गया और कुछ परंपरावादियों को छोड़कर अधिकांश लोग उस विषय में उपेक्षा बरतने लगे—यह सत्य के ऊपर पड़े हुए एक पर्दे का उठ जाना हुआ।

ऐसी-ऐसी अनेकानेक भ्रांत धारणाएँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भर गई हैं। उनका प्रवेश इतनी गहराई तक हो चुका है, उनको अपनाए रहने की अवधि इतनी लंबी हो गई है कि जो कुछ माना-अपनाया गया है, वह सभी सत्य प्रतीत होता है। इस परिपालन को हम यथार्थ भी मानते हैं और धर्म भी कहते हैं। परंपराएँ पत्थर की लकीर बन गई हैं, उनमें जो उपयोगिता की दृष्टि से अवांछनीय प्रतीत होती हैं, उनको छोड़ना भी इसलिए नहीं बन पड़ता कि चिर-अभ्यास से वे स्वभाव का अंग बन गई हैं। व्यवहार में सरल मालूम पड़ती है, जबकि नए सिरे से सोचने में पूर्वाग्रह अवरोध उत्पन्न करते और छोड़ने का प्रश्न सामने आने पर तो न केवल अपना वरन् समीपवर्ती लोगों का विरोध भी सामने आ खड़ा होता है। ऐसी दशा में सत्य का आभास मिलने पर भी मान्यताओं में, आचरणों में

असत्य ही अधिकतर छाया जा रहा है। इस अंधेरे आच्छादन से साहसपूर्वक निकल सकना संभव हो सके तो हम न केवल चिंतनात्मक वरन् व्यवहार में सामाजिक मान्यताओं में क्रांतिकारी परिवर्तन करने के लिए विवश होंगे।

जीवन का महत्त्व, स्वरूप, उद्देश्य और उपयोग भी हम कहाँ समझ पाते हैं ? शरीर को ही सब कुछ मानते हैं और उसी की लिप्सा-लालसाओं के लिए मरते-खपते रहते हैं। यह भ्रांति इतनी बड़ी है कि आप्तजनों द्वारा इसे माया ठहराए जाने और बंधन में बाँधने वाली बताकर छोड़ने के लिए सजग किए जाने पर भी वह मान्यता अपने स्थान पर यथावत बनी रहती है। जीवन उसी जाल-जंजाल में उलझते रहने में मोद मानता और व्यतीत हो जाता है। समय निकलने पर, आँखें खुलने पर, नशा उतरने पर प्रतीत होता है कि कितने बड़े भ्रम में रहा गया ? असत्य के कोल्हू में पिलते रहा गया और वह अवसर निकल गया, जिसका सदुपयोग कर सकने पर आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण के दोनों ही प्रयोजन सध सकते थे।

स्वभाव में लोभ, मोह की, अहंता के प्रदर्शन की ऐसी लत घुस पड़ी है कि उनकी अनावश्यक पूर्ति के लिए मरते-खपते सारा समय बीत जाता है। आलस्य-प्रमाद की, अपव्यय की, आवेश की ऐसी बुरी आदतें आचरण का अंग बन गई हैं, जिनके कारण पग-पग पर ठोकरें लगती रहती हैं। इतने पर भी यह सूझ नहीं पड़ता कि अपने आपे को जिस ढाँचे में ढाल लिया गया है, यात्रा को जो लक्ष्य बना लिया गया है, उसमें वास्तविकता-उपयोगिता नहीं के बराबर है। व्यक्तित्व का समूचा ढाँचा अवास्तविकताओं से घिर गया है।

भ्रांतियों का जंजाल छोटा नहीं है, उससे व्यक्ति और समाज को बुरी तरह आछन्न देखा जा सकता है। नर और नारी के बीच बरता जाने वाला भेद-भाव, जाति-पाँति के आधार पर चल रही ऊँच-नीच, मांसाहार, नशेबाजी, खर्चीली शादियाँ, भिक्षा व्यवसाय जैसी कुरीतियों पर दृष्टि डालते हैं तो विवेक की कसौटी पर इनका खोटापन सहज ही सिद्ध हो जाता है। उनके कारण होने वाली हानियाँ भी सहज

समझ में आ जाती हैं। फिर भी वह सब उसी रूप में चलता रहता है। मौखिक विरोध होता है, पर आचरण में अंतर नहीं आता। यह असत्य का वह चिर-संचित अभ्यास है जो हमारे रोम-रोम में बस गया है। आहार-विहार में समाविष्ट अवांछनीयताएँ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है कि हम वास्तविकता और उपयोगिता की ओर से कितने उदासीन असत्य से अपने आप घिरे हुए हैं और उसी में रहने के आदी बन गए हैं। जैसे—पतंगे को आग में कूद मरने की आदत मरणतुल्य त्रास देती रहती है।

सत्य बोलना अच्छी बात है। तथ्य को जिस रूप में समझा गया है उसी रूप में प्रकट कर देने से मन हल्का रहता है। अंतर्द्वंद्व नहीं उठता, प्रामाणिकता भी बढ़ती है, सम्मान होता और सहयोग मिलता है। इसलिए सत्य भाषण की महत्ता स्वीकार करते हुए भी मात्र उतने तक संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए वरन् यह भी देखना चाहिए कि अपने स्वभाव में, समाज के प्रचलन में कितना असत्य संव्याप्त है। उसे भी छोड़ने-छुड़ाने का प्रयत्न चलना चाहिए। सत्य की समग्र साधना इसी प्रकार संभव है, उसे मात्र वचन तक सीमित नहीं रहने देना चाहिए।

❑ ❑

अस्तेय का दर्शन एवं रहस्य

धर्म धारणा के प्रमुख नियमों में एक निर्धारण 'अस्तेय' का भी है। अस्तेय का मोटा अर्थ है—चोरी न करना। पर देखने में यह आता है कि प्रत्यक्ष चोरी कर सकने का अवसर तो किन्हीं विरलों को कभी-कभी ही मिलता है, फिर ऐसी गौण क्रिया को प्रमुखता किस आधार पर मिली ?

जेबकटी, उठाईगीरी, सेंध लगाना जैसे कुकृत्य तो कोई अति साहसी, क्रियाकुशल अभ्यस्त प्रशिक्षित ही कर पाते हैं। वैसी घटनाएँ कम ही होती हैं, असावधान लोग ही उचक्कों की चपेट में आते हैं। जागरूकता और सतर्कता का आश्रय लिये रहने पर उन प्रपंचियों की दाल सहज नहीं गल पाती। ढीठता को यदि प्रयत्नपूर्वक पकड़ा और प्रताड़ित किया जा सके तो दूसरे देखने वालों को भी नसीहत मिलती है और उन आशंकाओं की संभावना बहुत घट जाती है पहरेदारी का प्रबंध करके चोरी रोकी भी जा सकती है। मनुष्य जीवन में चोरी के खतरे का भय कम ही रहता है, वह भी ऐसा नहीं है जिसे प्रयत्नपूर्वक रोका न जा सकता हो। आमतौर से प्रमादी और असावधान लोग ही चोरी होने जैसी क्षति उठाते हैं।

किंतु धर्म आचरणों में जिस अस्तेय को प्रमुखता दी गई है वह एक दुष्प्रवृत्ति है, जो मनुष्य के स्वभाव की गहराई में घुसी पाई जाती है। बाहर से चोरी की घटना न होने पर भी इस प्रवृत्ति में संलग्न और उससे आक्रांत अनेक लोग पाए जाते हैं।

चोरी को प्रधानतया आर्थिक अपराध माना जाता है। यदि उसे इसी सीमा तक रखना हो तो उसमें कुछ अन्य तथ्य भी जोड़ने पड़ेंगे। बिना परिश्रम की कमाई को अथवा थोड़े श्रम के बदले बहुत लाभ उठाने को भी चोरी माना जाना चाहिए। व्यवसाय में आमतौर से इस प्रवृत्ति का गहरा पुट रहता देखा गया है। मुनाफखोरी के नाम से

यह बदनाम तो है तब भी उसे आचरण में लाते उस क्षेत्र के अधिकांश लोग देखे गए हैं।

मुनाफे की एक सीमित मर्यादा होनी चाहिए। लाभांश उतना लिया जाना चाहिए, जिससे उत्पादक और उपभोक्ता की मध्यवर्ती दलाली के रूप में उचित माना जाए। वस्तु को उसके गुण-अवगुण बताते हुए बेचा जाना चाहिए ताकि क्रयकर्त्ता को पीछे पछताना न पड़े। दूसरी जगह भाव तलाश करने पर यह न सोचना पड़े कि हमें ठगा गया। यदि व्यापार-व्यवसाय में खरा माल, एक दाम की परिपाटी चल पड़े तो समझा जाना चाहिए कि खुलेआम चल रही चोरी का एक बड़ा द्वार बंद हो गया। खाद्य-पदार्थों में, सोना-चाँदी में मिलावट एक बहुप्रचलन के रूप में सामने है। यदि इसे जन-आक्रोश उभार कर रोका जा सके, ऐसे चोरों को तिरस्कृत-बहिष्कृत करने का आंदोलन उठ खड़ा हो तो आर्थिक क्षेत्र की चोरी में से व्यवसाय क्षेत्र को निकाला जा सकता है। ऐसा ही प्रचलन सरकारी क्षेत्र में अफसरों द्वारा की जाने वाली रिश्वत की माँग के संबंध में भी है। वे अनुचित काम कराने वालों से भी उस काली कमाई में साझीदार बनते ही हैं, उचित काम करने वालों के कार्य में भी अंड़गे लगाकर उन्हें अनुचित हैरानी से बचने की कीमत भी माँगते हैं। यह भ्रष्टाचार देने और लेने वालों के सहयोग से निरंतर चलता रहता है और साझेदारी के आधार पर किए जाने वाली व्यभिचार की तरह पकड़ में कभी नहीं आता। इस प्रकार मुनाफाखोरी, करचोरी, जमाखोरी की तरह रिश्वतखोरी भी चोरी का एक सभ्य तरीका बन गयी है। उस काली कमाई से बचे रहने वालों की इस जमाने में प्रशंसा ही नहीं अभ्यर्थना भी की जा सकती है।

हराम की कमाई भी चोरी है। जो प्राप्त किया गया है उसके बदले आवश्यक परिश्रम करना, समय देना, मन लगाना आवश्यक है। बिना मूल्य बचपन में अभिभावकों का अनुदान प्राप्त किया जाता है, उसे मुफ्त का न माना जाए, अधिकार न समझा जाए वरन् यह राशि उधार मिले हुए कर्ज की भाँति है, जिसे वृद्धावस्था में उनकी सेवा-सहायता के रूप में तो चुकाया ही जाना चाहिए। साथ ही यह

भी देखा जाना चाहिए कि उनके छोड़े उत्तरदायित्वों को पूरा करने में सहायता करके उसे पितृऋण से उऋण हुआ जाए। छोटे बहिन-भाइयों, परिवार के अन्य असमर्थ सदस्यों की सहायता करना, पितृऋण चुकाना ही है। बच्चों को अभिभावक अकेले ही नहीं पाल लेते, वरन् परिवार के सभी सदस्यों का किसी-न-किसी रूप में योगदान रहता है। इसलिए वयस्क और कमाऊ सदस्यों पर परिवार के सभी लोगों का उनकी स्थिति के अनुरूप सहायता पाने का हक बनता है। इसे न चुकाना, कमाऊ होते ही अपना चूल्हा अलग बनाकर पृथक् रहने लगना यह भी एक प्रकार से चोरी है। उससे समूचे परिवार के प्रति अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा करने का दोष आता है, संयुक्त परिवार में तो विशेष रूप से।

पूर्वजों का छोड़ा हुआ धन भी हराम की कमाई है। जो स्वयं कमा सकते हैं, उसे वह धन लूट के माल की तरह हड़प जाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। छोटे बालकों, अनाश्रित महिलाओं के लिए पूर्वजों का छोड़ा धन उनके स्वावलंबी बनने तक काम आए, उसका तो औचित्य हैं, पर जो कमाने लगे, स्वावलंबनपूर्वक गुजर करने लगे उनके लिए यही उचित है कि पूर्वजों की छोड़ी हुई राशि को परमार्थ प्रयोजनों में उनकी आत्मशांति के लिए लगा दें। इससे समाज का हित भी होगा, सत्प्रवृत्तियों की पुण्य परंपरा भी बढ़ेगी। अपंग-अनाश्रितों को अवलंबन भी मिलेगा, उत्तराधिकार में मिले धन का सही सदुपयोग है। कृषि व्यवसाय आदि में लगी पूँजी को उस अर्थतंत्र के चलाने का माध्यम तो माना जाए, पर उनमें श्रमिकों को भी भागीदार रखा जाए ताकि स्थापित अर्थतंत्र का लाभ व्यक्ति विशेष को न मिलकर उस तंत्र को चलाने वाले सभी घटकों को मिलता रहे।

श्रमिकों के लिए उचित है कि जिस काम के लिए पैसा लिया है उसे पूरी ईमानदारी और मेहनत के साथ संपन्न करें। वेतन पूरा लेना और काम अधूरा करना यह भी कामचोरी है, जिसे मुनाफाखोरी के सदृश्य ही अनुचित समझा जाना चाहिए। श्रम और उपलब्धि के

बीच तारतम्य बिठाए रखना कर्त्तव्य और अधिकार को मिला-जुला रखने की तरह आवश्यक है।

साझेदारी के कार्यों में कोई भागीदार अधिक लाभ उठाए और दूसरे भागीदार के हक को दबा ले तो यह भी चोरी हुई। निर्धारित राज कर को भी ईमानदारी के साथ चुकाया जाना चाहिए। इस प्रकार आमदनी में कुछ कमी भले ही पड़ जाए पर सरकारी और गैर-सरकारी जन समुदाय की दृष्टि में अपनी फर्म की जो प्रतिष्ठा बढ़ती है, उसके आधार पर उसकी प्रतिष्ठा-प्रामाणिकता बढ़ती जाती है और अंततः कम लाभ लेते हुए भी अधिक मुनाफा मिलने की सूरत बन जाती है। संसार के प्रसिद्ध और प्रमुख व्यापारी उसी नीति को अपनाकर उन्नति के चरम शिखर तक पहुँचे हैं। बेईमानी का धंधा करने वाले जल्दी ही अपने ग्राहकों में बदनाम हो जाते हैं और नफे के स्थान पर नुकसान उठाते हैं।

कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों में कटौती करना, उपेक्षा बरतना यह नैतिक चोरी है। समाज को प्रगति में सहयोग न देकर मात्र अपने ही संकीर्ण स्वार्थ साधन में लगे रहना इसे भी चोरी का ही एक तरीका माना जा सकता है। मनुष्य जीवन सामाजिक सहयोग पर ही पूरी तरह अवलंबित है, उसे उपयोग की सभी आवश्यक वस्तुएँ तभी मिल पाती हैं, जब दूसरों के कौशल एवं श्रम का सहयोग इस निर्माण से जुड़ा हुआ हो। एकाकी मनुष्य तो अन्न, वस्त्र, निवास की सामान्य आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं कर पाता। मानवी प्रगति का एकमात्र आधार बहुमुखी सहयोग से लाभान्वित होना है। इसके बदले हर किसी का कर्त्तव्य बनता है कि वह सामाजिक प्रगति के कामों में अपनी सामर्थ्य भर उत्साहपूर्वक सहयोग करे। उसकी उपेक्षा करना भी कर्त्तव्य-कर्म की चोरी है। चोरी किसी भी स्तर की क्यों न हो उससे बचा ही जाना चाहिए।

❑ ❑

ब्रह्मचर्य शारीरिक ही नहीं मानसिक भी

ब्रह्मचर्य का लौकिक अर्थ है—अविवाहित। अविवाहित रहना अच्छा है, इससे जीवनी शक्ति का क्षरण रुकता है, शरीर का समुचित परिपोषण होने में दृढ़ता परिपक्व होती है। रोगों से जूझने और उन्हें परास्त करने की क्षमता का भंडार भरा रहता है। सुंदरता सुस्थिर रहती है, स्त्री-बच्चों की जिम्मेदारी न रहने, अपना समय, श्रम, मनोयोग और साधन दूसरे अधिक उपयोगी कामों में लगा सकने का अवसर मिलता है, गृहस्थ की अनेकानेक समस्याओं का झंझट बचता है। अधिक अध्ययन करने, पुण्य कमाने, तीर्थयात्रा जैसे परिभ्रमण पर निकलने की गुंजायश रहती है। ब्रह्मचारी दीर्घजीवी भी होते हैं।

उपरोक्त सभी लाभों पर विचार करने पर वे शारीरिक एवं लौकिक ही प्रतीत होते हैं। उनकी संगति ब्रह्म-परायण होने के साथ कैसे जुटे ? ब्रह्मचर्य का शब्दार्थ होता है—ब्रह्म को आचरण में समाविष्ट करना, ब्रह्म को चर जाना।' गाय घास चरती है और उसको दूध में बदल देती है। ऐसा कुछ ब्रह्मचर्य में भी होना चाहिए। उस विधा को अपनाने पर व्यक्ति को ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनी चाहिए, ब्रह्म निर्वाह के, ब्रह्म दर्शन के समीप पहुँचना चाहिए, पर वैसा होते देखा नहीं जाता। ब्रह्मचारी का शारीरिक क्षरण भर रुकता है उसके पास बलिष्ठता की पूँजी भर जमा होती है। कई बार तो वह लाभ भी पूरी तरह मिलता नहीं देखा जाता।

विधवाएँ और विधुर प्रत्यक्षतः ब्रह्मचारी ही रहते हैं। कुरूप और दरिद्री को भी विवाह का संयोग नहीं मिलता, तथाकथित साधु-संत भी सामाजिक मर्यादा के कारण विवाह नहीं कर सकते। इतने पर भी देखा गया है कि इस प्रकार अविवाहित रहने वालों में कोई विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती। न वे शारीरिक दृष्टि से बलिष्ठ होते हैं, न मानसिक दृष्टि से प्रखर, आत्मिक प्रगति के कोई लक्षण भी प्रतीत

नहीं होते। इन कारणों को देखते हुए संदेह होता है कि अविवाहित-ब्रह्मचारी रहने का कोई प्रतिफल होता भी है या नहीं। सामान्यतया शारीरिक लाभ तो होना ही चाहिए, शक्तियों का क्षरण रुकने में उसकी पूँजी तो जमा दीखनी ही चाहिए, पर होता उससे भिन्न है। वैज्ञानिक सर्वेक्षण से यह निष्कर्ष निकलता है कि अविवाहितों की तुलना में विवाहित अधिक निरोग रहते और अधिक दीर्घजीवी होते हैं। इस उलटे परिणाम को देखते हुए असमंजस होता है कि शास्त्रकारों ने ब्रह्मचर्य का महत्त्व गाया-बताया है, वह अलंकारिक ही तो नहीं है। उस प्रतिपादन में यथार्थता समाहित है भी या नहीं।

तथ्यतः ब्रह्मचर्य की प्रधान भूमिका मानसिक है। अध्यात्म उच्चस्तरीय मनोविज्ञान ही है। जब योग के, तप के, साधना के साथ उसे जोड़ा जा रहा हो तो उस संबंध में इस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिए कि इसके साथ ही ब्रह्म के साथ संबंध जोडने वाला कोई तत्त्वदर्शन भी जुड़ा होना चाहिए, वस्तुतः ऐसा है भी।

पानी का स्वभाव नीचे की दिशा में बहने का है। पर यदि उसे ऊपर की ओर ऊँचा चढ़ाना हो तो उसके लिए विशेष स्तर के प्रयत्न होने चाहिए। शरीर के परिपुष्ट होने पर, यौवन की दहलीज पर पैर रखते ही कामुक आवेश जागृत होते हैं। एक उन्माद जैसा चढ़ता है जिसकी आकुलता स्खलित होने का कोई उपाय ढूँढ़ती है। सीधा मार्ग नहीं मिलता तो औंधा-तिरछा तरीका अपनाती है, इस कारण वीर्य रक्षा लाभ भी नहीं मिल पाता। फिर ब्रह्म परायण होने का लाभ मिलेगा ही कैसे ?

होना यह चाहिए कि ब्रह्मचारी की मनोभूमि उच्चस्तरीय आदर्शों में इस प्रकार संलग्न रहनी चाहिए कि उसे कामुक आचरण तो दूर उस प्रकार के विचारों के लिए भी अवसर न मिले। प्रवाह को रोक देने के लिए मजबूत बाँध बाँधने चाहिए। यह मानसिक बाँध साधनात्मक मनोयोग भी हो सकता है और परमार्थ परायण सेवा साधना के प्रति प्रबल उत्साह और प्रवाह इसी प्रकार मोड़ा जा सकता है। आदर्शवादी तत्परता ऐसी होनी चाहिए कि हर समय उच्चस्तरीय चिंतन में ही मन रमा रहे, परमार्थ स्तर की योजनाएँ ही

बनती रहें। इतना ही नहीं वरन् क्रिया-कलाप भी ऐसे होने चाहिए जिनमें शरीर का श्रम, समय और मन का एकाग्रभाव पूरी तरह नियोजित रहे। इस प्रकार ब्रह्मचारी ऊर्ध्वरेता बनता है, उसकी कामुक ललक अधोगामी योजनाएँ बनाने की अपेक्षा आदर्शों में रमण करने लगती है। महानता से संबंधित क्रियाकलापों को अपना प्रिय विषय बनाता है। इस प्रकार अधोगामी प्रवृत्तियाँ रुकती हैं और वे उच्चस्तरीय विचारणाओं, भावनाओं और योजनाओं में नियोजित रहती हैं। फलतः दिशा बदल जाने पर मानसिक ब्रह्मचर्य भी सध जाता है और शारीरिक, मानसिक दोनों प्रकार का पोषण उज्ज्वल योजना के आधार पर मिलने लगता है। ब्रह्मचर्य के संबंध में जो लाभ बताया गया है, वह इस अनुबंध के आधार पर उपलब्ध होने लगता है।

ब्रह्मचर्य पालन में एक बड़ा अवरोध है—विषम लिंग के प्रति हेय स्तर का अश्लील आकर्षण। नर-नारी के रमणी, कामिनी, भोग्या रूप का चिंतन करता है अथवा नारी-नर के यौवन उभार पर ध्यान केंद्रित करती है तो मानसिक उत्तेजना इस स्तर की बढ़ जाती है कि रति कार्य के लिए व्याकुलता सताने लगती है, यह चिंतन ही प्रकारांतर से व्यभिचार बन जाता है। शारीरिक क्षरण की तरह मानसिक-लोलुपता भी इस व्रत को खोखला बनाती है। शारीरिक पात को किसी प्रकार रोका भी जा सके तो मानसिक अश्लीलता समूचे मनःक्षेत्र को मथ डालती है और उस आग में ओज की बहुमूल्य संपदा जलने लगती है। इसे ब्रह्मचर्य का नाश ही समझा जा सकता है, ऐसे व्यक्तियों को न शारीरिक लाभ मिलता है, न मानसिक—ब्रह्म परायणता तो निभे कैसे ?

ब्रह्मचर्य पालन के लिए इंद्रिय निग्रह से भी अधिक आवश्यक मनोनिग्रह है। मन को अश्लील चिंतन से रोकने का एक ही उपाय है—विपरीत लिंग पक्ष के प्रति पवित्रता का समावेश किया जाए नर-नारी को आयु के अनुसार पुत्री, भगिनी एवं माता के समान समझे। कल्पना क्षेत्र में भी प्रत्येक नारी को इसी पवित्र बंधन में बाँधे और उसे अपनी संगी-रिश्ते में पवित्र लगने वाली दृष्टि से मान्यता दें। यही बात नारी के संबंध में भी है, उसे भी पुरुष मात्र को पुत्र

भाई या पिता की तरह मान्यता देनी चाहिए और पवित्रतम् संबंध सुदृढ़ रखने की व्रतशीलता अपनानी चाहिए।

एक ही परिवार में सभी आयु के लोग रहते हैं। उसमें से कई तो युवक-युवती भी होते हैं, इतने पर भी उनमें परस्पर कोई दुर्भाव नहीं उभरते और न अनैतिक आचरण बन पड़ते हैं—यह मानसिक स्थिति का अंतर है। परायापन आते ही पवित्रता की दीवार ढह जाती है और युवक-युवती में आयु का चिंतन उभरते ही अनाचार के भाव उठने लगते हैं।

शारीरिक पापों की तरह मानसिक पाप भी होते हैं। किसी पर प्रत्यक्ष आक्रमण भले ही न बन पड़े, पर उसे क्षति पहुँचाने की मानसिक योजना बनती रहे, क्रोध उभरता रहे तो इतने से भी वह मानसिक पाप अपना प्रभाव उत्पन्न करेगा। शारीरिक एवं मानसिक विक्षेप उत्पन्न करेगा, आधि-व्याधियों को जन्म देगा। इसी प्रकार कामुक चिंतन के बारे में भी समझा जाना चाहिए। वह भी व्यभिचार की तरह अपना कुप्रभाव छोड़ता है, शारीरिक रस को नष्ट होने से भले ही बचा लिया जाए, पर मानसिक विनाश तो निश्चित रूप से होगा। मानसिक रूप से व्यभिचारी और शरीर क्षेत्र के ब्रह्मचारी उन समस्त लाभों से वंचित रहते हैं, जो ब्रह्मचर्य की महिमा-महत्ता के सबंध में बताए गए हैं।

☐ ☐

पूँजी को रोककर न रखें

प्रकृति का एक सुनिश्चित प्रवाह क्रम है। एक क्षण के लिए भी वह किसी को एक स्थिति में रहने नहीं देती। अणु-परमाणु घटकों से लेकर ग्रह-नक्षत्रों तक सभी को निरंतर गतिशील रहना पड़ता है। हवा सभी को हिलाती-डुलाती रहती है। रक्त संचार और श्वांस-प्रश्वांस का क्रम अंग-प्रत्यंगों को गतिशील रहने के लिए बाधित करते हैं। नदी-नाले का प्रवाह बहता रहता है। अन्न उपजता, आहार बनता और बाद में खाद बनकर नए सिरे से उपजने की तैयारी करता है। शरीर जन्मते, बढ़ते, ढलते और मृत्युमुख में चले जाते हैं। सूर्य-चंद्र उदित होते, प्रकाश देते और अस्ताचल की गोद में चले जाते हैं, यह भ्रमण-क्रम ही चेतना का, शरीर का सुनिश्चित क्रम है। यदि उनमें कहीं गतिरोध खड़ा हो तो समझना चाहिए कि वह तंत्र बिखरने जा रहा है।

धन की भी यही गति रहनी चाहिए। प्रगति इसी का नाम है। उत्पादन कोई कितना ही क्यों न करे, पर उसे किसी स्थान-विशेष पर संग्रहीत नहीं होना चाहिए। व्यक्ति के पास भी उसकी जमाखोरी नहीं होनी चाहिए। कर चोरी, मुनाफाखोरी को अपराध माना गया है, उन्हीं में एक गणना जमाखोरी की भी होती है।

शास्त्रकारों ने पंच महापातकों में एक परिग्रह की भी गणना की है। हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार के समतुल्य ही परिग्रह को माना गया है। परिग्रह का अर्थ जमाखोरी है, उसे उपार्जन की रोकथाम नहीं समझनी चाहिए। कमाने में, उगाने में हर्ज नहीं। वस्तुएँ यदि अधिक मात्रा में उपलब्ध होंगी तो वे जरूरतमंदो के काम आ सकेंगी। यदि अभाव की स्थिति बनी रहेगी तो उसके कारण कठिनाई सभी को भुगतनी पड़ेगी। व्यवसाय थम जाएगा, क्रय-विक्रय का सिलसिला न चलेगा। छीना-झपटी शुरू हो जाएगी, संपन्नों को सुविधा उठाते और

अपने को दरिद्रता में दिन काटते देखकर असमानताजन्य ईर्ष्या का उदय होगा और उस आवेश में बडों को गिराने का अभियान चल पड़ेगा। ईर्ष्या के साथ द्वेष भी जुड़ा हुआ है। द्वेष मात्र तभी नहीं होता जब किसी को हानि पहुँचाई जाए, उसका एक मनोवैज्ञानिक कारण यह भी है कि पडौसी का वैभव दीख पड़े और अपनी स्थिति उससे हीन दीख पडे तो इसका कारण अपनी असमर्थता-अयोग्यता सोचने के स्थान पर लोग यह अनुमान लगाने लगते हैं कि हम से कहीं अधिक कमा लेने वाला चोर-बेईमान रहा होगा। जिसके प्रति घृणा उपजी उसके लिए द्वेष भी उमगेगा ही। द्वेष के बीज जहाँ भी उगते हैं, वहाँ कलह उत्पन्न होता है। विग्रह का कोई न कोई कारण-स्वरूप बन ही जाता है। विग्रह में दोनों पक्षों को हानि होती है, समय, श्रम, धन की बर्बादी होती है और अंततः आक्रमण-प्रतिशोध का ऐसा सिलसिला चल पड़ता है, जिसका अंत ही नहीं होता। कई बार तो यह सिलसिला पीढ़ी दर पीढ़ी तक भी चलता देखा गया है—इसमें सब प्रकार तबाही ही तबाही है।

मनुष्य समुदाय एक परिवार की तरह है। उसका निर्वाह और विवाह परस्पर मिल-जुलकर ही होता है। आदान-प्रदान के कारण ही एक-दूसरे की आवश्यकताएँ पूरी कर पाते हैं। किसान गेहूँ कमाता है और तेली तेल। दोनों अपनी-अपनी कमाई को दाव पर रखे, किसी दूसरें को न दें तो उसका परिणाम यह होगा कि दोनों इतनी मात्रा का उपयोग तो कर नहीं सकेंगे, संग्रहीत वस्तुएँ जगह घेरेंगी और सड़ेंगी, साथ ही जो व्यवसाय क्रम चल सकता था, विनिमय के आधार पर अनेकों का काम चल सकता था—उन सभी को अभावग्रस्त स्थिति में रहना पड़ेगा, एक का संग्रह दूसरे अनेकों के लिए असुविधा का, दरिद्रता का निमित्त कारण बनता है।

उचित तो यह है कि उपार्जित पूँजी को अन्यान्यों के काम आने के लिए आगे बढ़ने दिया जाए—उसे एक ही स्थान पर रोका न जाए।

परिग्रह वह है जो जेवर, जायदाद, वाहन आदि के ठाट-बाट रोपने में पूँजी को मृत प्रायः बना देता है। फैशन के नाम पर

अंधाधुंध कपड़ों के सेट बनाना, कोठी-बंगले खड़े करना, प्रदर्शन के लिए बड़े ठाठ-बाट थोपना, अंग सज्जा की अनावश्यक वस्तुएँ कला के नाम पर एकत्रित करना आदि कामों में जो पूँजी लग जाती है वह दिन-दिन घिसती-घटती ही जाती है, वापिस तो लौटती ही नहीं। यह स्थिति सामाजिक प्रगति की दृष्टि से नितांत हानिकर है। जेबरों में रुपया फँसाकर उसकी ब्याज से तो वंचित रहना ही पड़ता है, साथ ही उसकी चोर-उचक्कों से सुरक्षा की विशेष व्यवस्था भी करनी पड़ती है। दर्शकों का मन ललचाता है और वे वैसी ही सज्जा बनाने के लिए अपराधी कृत्यों पर उतरते हैं। जेवर की टूट-फूट होती रहती है और वह घिसता रहता है। मरम्मत में ढेरों पैसा जाता है, मिलावट की चोरी भी हर बार बढ़ती जाती है। ऐसी सज्जा जिसमें लाभ एक भी न हो हानिकारक अवसर अनेक बने उसे अपनाने से क्या लाभ ? उसी प्रकार आवश्यकता से अधिक बड़ा मकान बना लेना, जिन वाहनों को किराए पर लेकर काम चल सकता था, उन्हें खरीद लेना ऐसा सफेद हाथी बाँधना है, जो दरवाजे की शोभा तो बढ़ा है पर उपार्जन की दृष्टि से व्यर्थ और खर्च के हिसाब से भारी महँगा पड़ता है।

जमीन में धन गाढ़कर रखना भी ऐसा ही है, जिसे किसी को न बता पाने या गाढ़कर भूल जाने पर वह एक प्रकार से समाप्त ही हो जाता है। उत्तराधिकारियों के लिए प्रचुर पूँजी छोड़ मरना भी ऐसा ही है, जिससे उनको हानि ही होती है। बिना परिश्रम के जो धन उपलब्ध होता है उसका सदुपयोग नहीं बन पाता, दुर्व्यसनों में उसकी समाप्ति होती है। अपनी मेहनत का कमाया हुआ पैसा ही उपयोगी कामों में खर्च हो सकता है क्योंकि उसके संबंध में जानकारी रहती है कि इसे कितनी मेहनत से कमाया गया है। जिसे कमाने में अपनी मेहनत नहीं लगी उसके बेहिसाब खर्च करने में भी झिझक नहीं होती। इस प्रकार हराम की कमाई देने वाले की संकीर्णता को तो विज्ञापन करती ही है, साथ ही ग्रहणकर्त्ता के भी हित मैं नहीं बैठती। जेबकट, जुआरी, सट्टेबाज कई बार ढेरों पैसा कमा लेते है, पर उसे उन्हें बर्बाद करने में भी देर नहीं लगती। ऐसे लोगों के साथ में पैसा

टिकता ही नहीं, वे कूड़े की तरह मिली दौलत को फुलझड़ी की तरह जलाने में हिचकते नहीं। इस प्रकार इसे धन का दुरुपयोग ही कहना चाहिए।

संकटग्रस्तों—अभावग्रस्तों की सहायता में अपनी कमाई का एक अंश लगते रहना आवश्यक है। इससे लोग संकट से उबरते हैं और अभावग्रस्तता से त्राण पाते हैं। सत्प्रवृत्ति संवर्धन कर सकने वाले अनेक कार्य ऐसे हैं, जिनका संस्थापन-संचालन बन पड़ने से अनेकों का अनेक प्रकार हित-साधन होता है। जहाँ संकटापन्न स्थिति हो वहाँ दान भी दिया जा सकता है, पर अधिक प्रयास इस बात का होना चाहिए कि अधिकों को अधिक काम मिले और इसके लिए जहाँ पूँजी कम पड़ती हो उसकी आवश्यकता पूरी हो। यह उधार देने और उस कमाई से अपनी पूँजी किस्तों में वापिस लेने की व्यवस्था बना देना भी एक प्रकार से पूँजी निवेश है, जिसके पीछे यदि बड़ी ब्याज कमाने का प्रलोभन हो तो उसे भी दान या सहायता ही कहा जा सकता है। बचत का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाए और उस आधार पर जो संचय बन पड़े, उसे रोक रखने के साथ ऐसे लोगों को ऐसे कामों के लिए उपलब्ध कराया जाए जिससे वे अपनी आजीविका का चक्र घुमाने, साथ-साथ दी हुई पूँजी को भी धीरे-धीरे वापिस लौटाने की सदाशयता का भी परिचय देते रहें।

दान हो या उधार, सहयोग देकर दूसरों को अपने पैरों खड़ा होने की स्थिति तक पहुँचाना निश्चय ही पुण्य परमार्थ है, पर उसको संचयशील, मितव्ययी एवं उदारचेता ही कर सकते हैं। यह बन तभी पड़ सकता है, जब पूँजी का महत्त्व और उसके सदुपयोग का प्रतिफल सही तरह समझा जाए, इसी को सच्चा अपरिग्रह समझा जाना चाहिए।

□ □

शुचिता और स्वच्छता

छोटे बच्चे को माता असीम प्यार करती है, पर जब वह टट्टी में सना होता है, किंतु गोदी में चढ़ने के लिए रोता-मचलता है तब भी माता उसकी इच्छा पूरी नहीं करती और दूर ही रखती है। रोने की परवाह नहीं करती, जब नहला-धुला लेती है, गंदे कपड़े बदल देती है, तब गोदी में उठाती है और प्यार करती है। भगवान की नीति भी ऐसी है, वे अपने किसी बच्चे को मलीन नहीं देखना चाहते! उसे स्वच्छ सुंदर स्थिति में ही देखना चाहते हैं, कीचड़ में सने बच्चे को गोदी में उठाने से ही उनके अपने कपड़े खराब होते हैं, उन पर भी लांछन लगता है। ढीठ-उजड्ड बच्चों की हरकतों का दाग उनके अभिभावकों पर भी लगता, साथ ही सुशील बालकों की शिष्टता के लिए उनके माता-पिता भी श्रेयाधिकारी बनते हैं। भगवान सबका माता-पिता है। उसके ज्येष्ठ पुत्र मनुष्य की भली-बुरी हरकतों से उसके सृजेता को भी यश-अपयश का भागीदार बनना पड़ता है अथवा यह कहा जा सकता है कि इतने महान् सृजेता की कलाकृति होने पर भी यह अभागा इस गई-गुजरी स्थिति में पड़ा हुआ है।

स्वच्छता सभ्यता का प्रथम चरण है। मैला-कुचैला शरीर और गंदे वस्त्र धारण करके कोई व्यक्ति जहाँ कहीं भी जाता है तिरस्कृत-उपेक्षित रहता है। ऐसा उसकी असमर्थता के कारण नहीं उसकी असभ्यता के कारण होता है। सभ्यता के प्रथम चरण में प्रवेश करने पर सर्वप्रथम मनुष्य को स्वच्छता का पाठ पढ़ना पड़ता है। निरक्षरता सहन हो सकती है, क्योंकि उसका कारण बहुत करके परिस्थितियों का अनुकूल न होना भी हो सकता है किंतु अस्वच्छता तो किसी के आलसी-प्रमादी होने का प्रत्यक्ष चिन्ह है। जागरूक, स्फूर्तिवान् एवं अपनी गरिमा का तनिक भी ध्यान रखने वाले सर्वप्रथम यह प्रयास करते हैं कि मलीनता से नाता तोड़ें और

स्वच्छता अपनाएँ। यह कार्य दृष्टिकोण परिष्कृत रखने और सफाई के लिए थोड़ा प्रयत्न करने भर से पानी साबुन जैसे थोड़े-से साधनों से भी पूरा हो जाता है।

मलीनता का जमते रहना प्रकृति क्रम है। शरीर से पसीना निकलता है, मुख से गंदी वायु, आँखों से कीचड़, कान में मोम, दाँतों का मैल, मलमूत्र छिद्रों से गंदगी—इन सबको नित्य ही बार-बार स्वच्छ करना पड़ता है। कपड़ों पर खूँटी से टँगे-टँगे धूलि जमा हो जाती है। आँगन में, कमरे में हवा के साथ उड़कर कचरा आ जाता है, बर्तन पीले पड़ जाते हैं, घड़े का पानी बेस्वाद हो जाता है, जंगलों में पत्ते-काँटे टूट-टूटकर सब ओर बिखर जाते हैं—इन सबको हटाकर पगडंडी बनानी पड़ती है और उसकी बार-बार मरम्मत करनी पड़ती है। यदि यह सब न कराया जाए तो गंदगी के अवरोध खड़े हो जाएँ। पशु जहाँ बँधते हैं, वहाँ गोबर के ढेर लग जाएँ। म्युनिसिपैलटियों के सफाई कर्मचारी इतनी बड़ी संख्या में लगते हैं तब कहीं दैनिक कचरे का निपटारा हो पाता है। यदि सफाई का काम दो-चार दिन के लिए भी रुक जाए तो मैल के ढेर लग जाएँ और बीमारी फैलने लग जाए। इसलिए सफाई उन दैनिक कृत्यों में शामिल की गई है, जिसमें कभी भी नागा नहीं हो सकती। अवरोध उत्पन्न होने पर उसकी विभीषिका प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने लगती है। गंदगी की सहोदर बहिनें बीमारियाँ हैं, भीतर या बाहर जहाँ भी कचरा जमा होता है तुरंत बीमारी के लक्षण उभरने लगते हैं।

अन्य कामों की उपेक्षा कुछ समय के लिए सहन भी की जा सकती है। किंतु गंदगी की संगठना भी ध्यान से नहीं उतारी जा सकती है। प्रीतिभोज होने से पहले यह प्रबंध किया जाता है कि जूटे बर्तनों की सफाई का क्या प्रबंध किया जाएगा। खेत बोने से पहले जमीन को जोतकर कंकड़-पत्थरों से, झाड़-झंखाड़ों से रहित किया जाता है। रंगरेज कपड़े रंगने से पूर्व उनकी धुलाई की व्यवस्था करता है। डाक्टर इंजेक्शन लगाने के पूर्व सुई को गरम पानी में खौलाता है। रसोईघर में वस्तुओं तथा बर्तनों की सफाई पर पूरा ध्यान रखना होता है।

अपने चारों ओर ऐसा वातावरण घिरा रहता है, जिसमें दृश्यमान और अदृश्य गंदगी का बाहुल्य छाया रहता है। असावधानी जहाँ भी जरा भी पनपी कि वहाँ गंदगी का पदार्पण बढ़ने लगेगा। इसे रोका नहीं जा सकता। किया इतना जा सकता है कि संभावना के प्रति सतर्कता बरती और रोकथाम की चेष्टा की जाए। यदि कहीं से गंदगी का प्रवेश होने लगे तो उसका निराकरण फिर कभी के लिए न छोड़ा जाए वरन् तुरंत ही किया जाए। सुंदरता सुसज्जा के लिए अन्य साधन न हों तो भी हर्ज नहीं, स्वच्छता अपने आप में सुरुचि का इजहार करती है और सुंदर भी सहज ही लगती है।

यह दृश्यमान गंदगी के निवारण की बात हुई। इसका दूसरा पथ है—मानसिक मलीनता, जो गुण, कर्म, स्वभाव में निकृष्टता का समावेश होने से बढ़ती है। संकीर्ण स्वार्थपरता दुष्प्रवृत्तियों की जननी है। लालची, मोहग्रस्त और अहंकारी अपनी इन हविसों को सीधे रास्ते चलकर पूरा कर सकने में समर्थ नहीं हो पाते। उनके लिए छल-प्रपंच करने पड़ते हैं, नासमझों को फँसाने के लिए जाल बिछाने पड़ते हैं, आक्रमण-अपहरण जैसे कुकर्म करने के लिए कदम बढ़ाने पड़ते हैं। वे कितनी मात्रा में सफल हुए ? यह तो चतुरता और अवसर पर निर्भर है, पर प्रवृत्तियों का उद्भव जिस मस्तिष्क से हुआ है उसमें तो अचिंत्य चिंतन का विषैला धुआँ भयंकर घुटन उत्पन्न करने लगता है। इससे वह व्यक्ति स्वयं तो उद्विग्न रहता ही है और अपने समीपवर्ती क्षेत्र में भी कलह-कोहराम का वातावरण बनाने लगता है। बुराइयाँ छूत की बीमारी की तरह एक से दूसरे को लगती हैं और फिर वह विषबेल आगे-आगे ही बढ़ती जाती हैं।

पौधों को बढ़ने और फलने-फूलने की स्थिति तभी उपलब्ध होती है, जब उन्हें खाद-पानी समुचित मात्रा में मिलता रहे। व्यक्तित्व के विकास के लिए भी स्वच्छता और शुचिता की आवश्यकता है। बाह्य क्षेत्र की स्वच्छता और अंतरंग की समुचित शुचिता को पवित्रता भी कहते हैं, दोनों के समन्वय को सौच कहा गया है। आत्मिक प्रगति के आकांक्षियों को इन दोनों को ही समुचित मात्रा में सँजोना पड़ता है।

पूजा-अर्चा के समय शरीर, वस्त्र, आसन, पूजा-उपकरण आदि सभी सम्बद्ध वस्तुओं को साफ-सुथरी स्थिति में प्रयोग करना पड़ता है। इसी प्रकार मन और अन्तःकरण से जिस ज्ञान, कर्म और उपासना के लिए मानस बनाना पड़ता है, उसके लिए मनोभूमि को निर्विकार-निश्छल बनाने की आवश्यकता पड़ती है। यदि कुविचार और दुर्भाव मन में भरे पड़े हैं तो उस सड़ी गंदगी में न तो भक्ति भावना के पैर जम सकते हैं और न भगवान के अवतरण की किसी कृपा-किरण का आलोक उदय हुआ परिलक्षित हो सकता है। जिस बर्तन में सड़ी कीचड़ भरी है, उसे खाली किए बिना, साफ किये बिना किसी शुद्ध वस्तु को भरा नहीं जा सकता। इसी प्रकार मलीनता भरे अन्तःकरण में देवत्व का प्रवेश पाना और स्थिर रहना संभव नहीं हो सकता। बाह्य क्षेत्र की गंदगी से मन की अप्रसन्नता बढ़ती और दर्शकों के मन में घृणा उपजती है। इसी प्रकार भीतरी गंदगी किसी के छिपाए नहीं छिपती और लोगों के मनों की गहराई तक पहुँचकर अपनी वास्तविकता प्रकट करती है और दूर रहकर अपना बचाव करने का संकेत करती है। जिन्हें दूरदर्शिता प्राप्त है उन्हें वस्तुस्थिति ताड़ने में देर नहीं लगती और वे कषाय-कल्मषों से भरे व्यक्तित्व की दुर्गंध पाकर अलग रहने, दूर हटने लगते हैं। ऐसा व्यक्ति अविश्वासी बनता है और किसी का स्नेह भाजन नहीं बनता, न उसके सच्चे मित्र होते हैं और न सच्चे सहयोगी। एकाकी रहने वाला सदा नीरसता अनुभव करता रहता है। अकेलापन एक गहरा अंधकार है जिसमें अपने आपे के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं।

आत्मिक प्रगति के लिए आवश्यक चरण दो माने गए हैं—बहिरंग स्वच्छता और अंतरंग शुचिता। इन्हें अपनाए बिना प्रगति की मंजिल रुकी ही रह जाती है।

❑ ❑

असंतोष की अवांछनीय मनःस्थिति

संतोष को आध्यात्मिक सद्‌गुणों में महत्त्वपूर्ण माना गया है। "संतोषी सर्वदा सुखी" की उक्ति में यह रहस्य समाहित है कि असंतोषी को सदा दुःख-दरिद्र में घिरा रहना पड़ता है, जबकि संतोषी को किसी बात की कमी अनुभव नहीं होती और न वह दरिद्र-अभाव-ग्रस्तों की तरह बेचैन फिरता है।

संतोष से अभिप्राय संतुलन से है। मन को असंतुलित बनाने में यों आवेशों को प्रमुख माना जाता है, पर वे देर तक ठहरते नहीं। दूध सदा उफनता नहीं रहता, उसकी एक तरंग आती है और जितना भी दूध पतीली से बाहर निकालना है निकाल देती है। प्रेम और द्वेष के दोनों ही आवेश ऐसे हैं, जो समय की गति के साथ ढीले पड़ने लगते हैं, उनमें स्थायित्व रहता तो मित्र-संबंधियों का बिछोह होने पर उस उद्विग्नता से घिरे रहकर लोग दम तोड़ देते, इसी प्रकार मिलन की खुशी भी देर तक नहीं टिकती। विवाह के दिन जिस नये जोड़े में जो उत्साह होता है प्रेम उफन पड़ता है, वह कुछ दिन के बाद सामान्य पति-पत्नी के रूप में धरातल पर आ जाता है। इस प्रकार बैर-विरोध भी कालांतर में ढीला पड़ता जाता है। घनिष्ठ मित्रों के दूर चले जाने पर वह मैत्री भी सामान्य जान-पहचान जैसी रह जाती है। उद्विग्नता प्रिय या अप्रिय किसी भी स्तर की हो, समय के झोंके लगने से ठंडी हो जाती है। ज्वार-भाटे की तरह, रात-दिन की तरह प्रिय, अप्रिय प्रसंगों से उत्पन्न होने वाले भले-बुरे उभार समयानुसार उबलते और शांत होते रहते हैं, पर असंतोष एक ऐसा रोग है, जो हर घड़ी, हर स्थिति में एक-सा बना रहता है और मनुष्य को चैन से नहीं बैठने देता।

असंतोष का विश्लेषण करने पर प्रतीत होता है कि वह अवास्तविकता से जुड़ी हुई एक कल्पित भ्रांति है, जिसका आदी बन

जाने पर मस्तिष्क एक खास ढंग से सोचते रहने का आदी बन जाता है। वह बहुत चाहता है, बहुत बड़ा बनना चाहता है। बहुतों पर स्वामित्व जमाना चाहता है। प्रशंसा के पुल बाँधने और उस पर दौड़ लगाते रहने की ललक निरंतर उस पर सवार रहती है, यह तृष्णा ही परिपक्व होकर ऐसे असंतोष का रूप धारण कर लेती है जिसे सहज छुड़ाया जाना कठिन पड़ता है।

मनुष्य की वास्तविक आवश्यकताएँ बहुत सीमित हैं। पेट भरने को रोटी, तन ढकने को कपड़ा और रहने को छाया का प्रबंध कर लेना इतना कठिन नहीं है, जिसके लिए दिन-रात लगा रहना पड़ और फिर भी पूर्ति न हो पाए। वस्तुतः यह सारा प्रबंध कुछ ही घंटे परिश्रम कर लेने पर, बदले में इतना उपार्जन हो सकता है जिससे निर्वाह का ढर्रा सहज ही घूमता रह सके। संबंधित परिवार को भी यदि स्वावलंबी सुसंस्कारी बनने की आरंभ से ही प्रेरणा दी जाती रहे तो वे भी कुछ ही समय में अपने पैरों खड़े रहकर जीवन की नाव को अपने बलबूते खींच सकने में समर्थ हो जाते हैं। संतानोत्पादन के कुचक्र में जान-बूझकर पैर न फँसाए जाएँ तो पति-पत्नी का जीवन एक-दूसरे की सेवा-सहायता करते हुए बड़ी प्रसन्नता और सुविधा के साथ बीत सकता है। आफत तब आती है, जब बच्चों को सुयोग्य बनाने के लिए आवश्यक धन, समय और वातावरण न होने पर भी आँखें बंद करके प्रजनन में प्रवृत्त रहा जाता है और इतना भार सिर पर चढ़ा लिया जाता है, जिसे बेढंगे तरीके से ढोते रहने में सारी जिंदगी बीत जाती है। फिर भी अपने को बच्चों से और बच्चों को अपने आपसे असंतोष ही बना रहता है। कर्त्तव्य की उपेक्षा और अधिकार की प्रबलता होने पर सर्वत्र कलह मचता है। फिर परिवार क्षेत्र ही उससे अछूता कैसे रह सकता है ? विशेषतया वे परिवार जो दुर्गुण से घिरे हैं, जिनमें दृष्टिकोण को उच्चस्तरीय रखने की व्यवहारिक शिक्षा नहीं मिली है। अधिकांश परिवारों की स्थिति ऐसी होती है, जिनमें मनोमालिन्य छाया रहता है। शिकायतों का सिलसिला आता रहता है, कलह, विग्रह और मनोमालिन्य बना रहता है। इस नरक को जानबूझ कर अपने चारों ओर लपेट लेने में मनुष्य की

मूर्खता ही निमित्त कारण है। अन्यथा परिवार को ईश्वरीय उद्योग समझकर माली की तरह उसे कर्त्तव्य भाव से सींचा जाए, छोटे परिवार को अपना मानने की अपेक्षा विश्वभर को परिवार मानकर चला जाए तो सेवा-साधना तो बन पड़ती है साथ ही प्रसन्नता भी कम नहीं रहती।

ठाट-बाट बनाने में, लोगों की आँखों में धूल झोंककर अपना बड़प्पन जताने में कितने खर्चीले आडंबर खड़े करने पड़ते हैं। उनके सरंजाम जुटाने में ही मनुष्य की कमर टूटने लगती है, साथ ही यह भय भी बना रहता है कि योग्यता से अधिक जितना श्रेय समेटा गया है उसकी पोल न खुल जाए और बड़प्पन पाने के बदले अपमान, तिरस्कार, उपहास न सहना पड़े। फिर उस बड़प्पन से क्या लाभ जो बिजली की तरह क्षणभर कौंधकर दूसरे ही क्षण विस्मृति के गर्त में चला जाए। यदि 'सादा जीवन उच्च विचार' की नीति बनाई जाए, औसत नागरिक स्तर का रहन-सहन अपनाया जाए तो उस स्वाभाविकता की स्थिति में सदा संतोष बना रह सकता है। निर्वाह भी ठीक प्रकार हो सकता है और आजीविका उपार्जन के उपरांत बचे हुए समय में सद्ज्ञान, संकलन एवं सत्प्रवृत्ति संवर्धन में लगकर विपुल प्रसन्नता अर्जित करते रहा जा सकता है। भौतिक दृष्टि से सीमित और आत्मिक दृष्टि से असीम बनने की आकांक्षा ऐसी है, जिसे सहज पूरा किया जा सकता है और संतोषपूर्वक अपना समय बिताया जा सकता है।

संतोषी बनने का अर्थ अनुत्पादक या आलसी बन बैठना नहीं है। पुरुषार्थ तो हर क्षेत्र में किया जाना चाहिए, अर्थ उपार्जन के लिए भी किंतु साथ ही यह भी ध्यान रखा जाए कि सादगी से खर्च चलाने के उपरांत जो बचत हो उसका उपयोग समाज में पिछड़ापन दूर करने एवं सत्प्रवृत्तियों को सुविस्तृत करने के निमित्त ही लगाया जाए। ऐसी दशा में वह अर्थ उपार्जन भी पुण्य परमार्थ का प्रतीक ही बन जाता है। उस स्थिति में जितनी कमाई बन पड़े उतने से ही संतोष बना रह सकता है।

असंतोष अधिकाधिक परमार्थ करने, व्यक्तित्व को अधिकाधिक सद्‌गुणों से संपन्न करने के लिए बना रहे तो हर्ज नहीं। वैसी आक़ांक्षा तो आत्मिक प्रगति की निशानी है, यह आत्मिक भूख जब विकृत होती है तो वासना, तृष्णा, अहंता, ममता के रूप में फूटती है और जल्दी से बहुत कुछ समेट लेने की आतुरता में कुकर्म करने के लिए प्रेरणा भरती है। उसी व्याकुलता में कस्तूरी के हिरन जैसी मृगतृष्णा में प्राणी भटकता है और समुद्र जैसी खाई पाटने में असमर्थ रहने पर सदा ऐसी बेचैनी में फँसा रहता है, जो जलती आग की तरह होती है, उसमें जितना ईंधन डाला जाए उतनी ही ज्वलंत होती है।

वैभव बटोरने की ललक आमतौर से मनुष्य को अधिक असंतुष्ट रखती है, उसी की पूर्ति कठिन पड़ती है। सामान्यतया निर्वाह में कमी पड़ने पर दरिद्रताजन्य असंतोष पाया जाता है, इसे पुरुषार्थ जगाकर सहज ही पूरा किया जा सकता है। सृष्टि के सभी प्राणी प्रकृति-प्रेरणा के अनुरूप सबेरे से शाम तक शरीर रक्षा के लिए पुरुषार्थ करते रहते हैं। वे भूखे उठते तो हैं पर भूखे सोते नहीं, उनकी अपेक्षा मनुष्य कहीं अधिक साधन-संपन्न, शरीर-बुद्धिबल का स्वामी है। वह अपनी उचित आवश्यकताओं को पूरा न कर सके—ऐसा कोई कारण नहीं जिसके कारण मनुष्य को अभावग्रस्त रहना पड़े। इस मार्ग में आलस्य और प्रमाद भी दो बड़ी बाधाएँ हैं, जिन्हें चाहे तो मनुष्य स्वयं सरलतापूर्वक दूर कर सकता है।

रोगी, अपंग, बालक, वृद्ध आदि को अवश्य अधिक असुविधा का सामना करना पड़ता है, पर ऐसे लोग कम ही होते हैं और वे चाहें तो सहनशीलता अपनाकर अपने से अधिक दुःखियों के साथ अपनी तुलना करने, उदारचेताओं का सहयोग अपनी विनम्रता एवं मिठास के द्वारा आकर्षित करके उस स्थिति में भी लगभग वैसी मनःस्थिति में रह सकते हैं जिसे संतोष से प्रभावित कहा जा सके।

❑ ❑

तप साधना का परम पुरुषार्थ

कच्ची मिट्टी के बने घड़े में पानी भर देने पर वह कुछ ही घंटों में गीला होकर बिखर जाता है, पर यदि उसे अवे में पका लिया जाए तो मजबूत होकर मुद्दतों काम देता है। यह तपाने का चमत्कार है। धातुओं का शोधन भी इसी प्रकार होता है, वे जमीन से मिट्टी मिली हुई स्थिति में निकलती है। उस स्थिति में वे किसी काम में लाए जाने योग्य नहीं होती, उन्हें भट्टी में डालकर पिघलाया जाता है तब शुद्ध धातु सामने आ जाती है। कचरा जलकर अलग हो जाता है, यदि इस प्रक्रिया से डरा या बचाया जाए तो धातुओं का विशालकाय परिकर निकम्मा ही पड़ा रहेगा और उनसे कोई उपयोगी उपकरण बन न सकेगा।

कच्ची मिट्टी से बने मकान बरसात आने पर घुल या ढह जाते हैं, पर यदि उन ईंटों को पकाकर इमारत बनाई जाए तो वह मुद्दतों यथावत् खड़ी रहती है। व्यंजन-मिष्ठान्न चूल्हे की अग्नि पर चढ़ने के बाद ही बनते हैं। आयुर्वेदीय औषधियों में रस-भस्में अग्नि संस्कार से ही बनते हैं। शोधन, जारण-मरण, अर्क, अवलेह आदि का निर्माण भी अग्नि सान्निध्य में ही होता है।

सूर्य ग्रीष्म में तपता है तो समुद्र से बादल बनते हैं और घनघोर घटा बनकर भूमि को मखमली हरीतिमा से भरते हैं। तपस्वी योग साधते हैं और उस तितीक्षा के आधार पर प्रसुप्त शक्ति केंद्रों को जागृत करते हैं। गुरुकुलों में छात्रों को कठोर जीवन की संयम-साधना कराई जाती है, इसी के बलबूते वे प्रचंड पराक्रम करने में समर्थ नररत्न बनते हैं।

तप की महिमा अपार है। कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यास जब महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है तो उसे तपस्या कहते हैं। यह भौतिक प्रयोजनों के लिए भी की जा सकती है और अध्यात्म

प्रयोजनों के लिए भी। जो वृक्ष कठोर परिस्थितियों में उगते और बढ़ते हैं, वे पर्वत-शिखरों पर भी हरियाते हैं, आँधी-तूफानों से टकराते हैं किंतु बगीचों की शोभा बढ़ाने वाले फूल तनिक-सी सर्दी-गर्मी की प्रतिकूलता आते ही छुई-मुई की तरह कुम्हलाते हैं। अमीरों की सुविधाएँ उन्हें निष्क्रिय-दुर्व्यसनी बनाती हैं। पर जो खदानें खोदते हैं उन श्रमिकों की कलाइयाँ मजबूत और छातियाँ तनी रहती हैं। कठिनाइयों में पलने वाले बड़े पराक्रम करते देखे जाते हैं, पर जिनका पालन फूलों के पालने में हुआ है, उन्हें जमीन पर पैर रखते चुभन होती है। कठिनाइयों का सामना करने का तो उनमें दम ही नहीं होता, हर मौसम उनके प्रतिकूल पड़ता है। मौसमी बीमारियाँ एक प्रकार से उन्हें अपना स्थायी यजमान बना लेती हैं। श्रम से दूर रहने वाली महिलाओं को प्रसव के समय प्राण लेवा कष्ट सहना पड़ता है। कई बार तो वे इस प्रसंग में अपने प्राण तक गँवा बैठती हैं, जबकि गाड़ियाँ लुहारों की लोह पीटने वाली महिलाएँ इस प्रकार जननी बन जाती हैं मानो कुछ असाधारण जैसा हुआ ही न हो। दो-चार दिन की इस बड़े काम से छुट्टी तक नहीं लेतीं। तुलनात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि निरोगता और दीर्घजीवन की कुंजी श्रमशीलता के साथ जुड़ी हुई है। वनवासी कोल-भील तीर से चीते को गिरा देते हैं, जबकि उन्हें न तो पौष्टिक भोजन मिलता है और न सुविधा भरे साधनों को वे उपलब्ध कर पाते हैं।

प्रगति पथ पर अग्रसर होने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने ढंग का कठोर श्रम करना पड़ता है। पहलवान, विद्वान, वैज्ञानिक, नायक, कलाकार अनायास ही अपने विषयों में प्रवीण नहीं हो जाते, उन्हें कृषक और मजदूरों की तरह व्यस्त रहना और कठोर श्रम करना पड़ता है।

प्रतिकूलताएँ अनायास ही नहीं हट जातीं, उनसे संघर्ष करना पड़ता है। सैनिकों को मोर्चा जीतने में कठिनाई के साथ जूझने और प्रचंड साहस का परिचय देना पड़ता है। आत्मशोधन के लिए अभ्यस्त-अनुपयुक्त आदतों को उखाड़ फेंकने में निरत होना पड़ता है। यह प्रसंग धोबी के द्वारा कपड़े धोए जाने के सदृश्य है। मैला कपड़ा जब गरम भट्टी में उबलता

है और डंडे की पिटाई सहता है तभी उसे भकाभक चमकने का अवसर मिलता है। मात्र पानी में निचोड़ देने पर सफाई कहाँ आती है ? बर्तनों पर पत्थरों की घिसाई से ही चमक आती है।

अनीति से जूझने वालों को उनके प्रहार सहने पड़ते हैं, जिनके स्वार्थों की चोट पहुँचती है। सुधारकों में से अनेकों को शहीद होना पड़ा है। देव-दानव युद्ध में प्रथम आक्रमण करने वाले दैत्य जीतते और देव हारते रहे हैं। क्षति देवताओं को ही अधिक उठानी पड़ती रही है, भले ही अंत में सत्य की विजय होने वाली उक्ति सार्थक हुई हो और देवत्वं को जीतने का श्रेय मिला हो।

आक्रमण से भयभीत होकर यदि देवताओं ने पीठ दिखाई होती तो फिर उनका कोई ठिकाना न रहता। सदा-सर्वदा के लिए पराजित होकर रहना पड़ता।

भ्रूण को उदरदरी से बाहर निकलने के समय प्रचंड पुरुषार्थ करना पड़ता है। उस समय का दृश्य खून-खच्चर से भरा होता है। इसके बिना स्वच्छ हवा और उन्मुक्त आकाश के नीचे विकसित होने का सुयोग न मिलता, भ्रूण की स्थिति में पड़ा-पड़ा ही सड़ जाता। मुर्गी के अंडों में बंद चूजे थोड़ी सामर्थ्य अर्जित करते हैं तो बाहर निकलने के लिए हलचल मचाना आरंभ करते हैं। ऊपर के कठोर कलेवर में इसी आधार पर दरार पड़ती है और चूजा निकलकर बाहर आता है। अन्य जीवधारियों की तरह अपने स्वतंत्र अस्तित्व का परिचय देता है। यह संघर्ष अध्यात्म की भाषा में तप कहा जाता है। तप का अर्थ है तपना, तपने पर हर वस्तु निखरती है। सोने को तपाए जाने पर ही उसके खरे-खोटे होने की परख होती है। चाकू को पत्थर की चरखी पर घिसते हैं, तभी उसकी तेज धार निखरकर आती है।

कीर्तिमान स्थापित करने वाले पर्वतारोही, घुड़सवार जान की बाजी लगाते हुए कदम बढ़ाते हैं। प्रतियोगिता जीतने वाले खिलाड़ी भी अपने पौरुष का चरम परिचय देते हैं। विजयश्री का वरण कर सकना उन्हीं के लिए संभव हुआ है, जिन्होंने अपनी वरिष्ठता का परिचय दिया है। डरते रहने वाले, कायरता अपनाने वाले भयभीत लोग अपेक्षाकृत अधिक हानि उठाते हैं। आक्रमणकारी उनकी

मनःस्थिति ताड़कर अधिक निश्चिंतपूर्वक अधिक गहरा आक्रमण करते हैं। तनकर खड़े हो जाने वाले रीछ-वानरों ने लंका के दुर्दांत दैत्यों को परास्त करके रख दिया था।

यमराज ने एक बार मौत को एक क्षेत्र से, पाँच हजार आदमी मार लाने के लिए भेजा। वह जब झोली भरकर लाए गए तो गिनने पर वे पंद्रह हजार निकले। जबाव-तलब हुआ कि इतने अधिक क्यों ? मौत ने सबूत समेत सिद्ध किया कि बीमारी से तो पाँच हजार ही मरे हैं, शेष तो डर के मारे बिना मौत मर गये और परलोक आने वाली भीड़ के साथ जुड़ गए। कहा जाता है कि साहसी जीवन में एक बार मरता है, पर कायर तो भयभीत रहकर पग-पग पर, पल-पल पर मरता रहता है।

हीरा एक प्रकार से कोयला ही है। खदान में जिसे अधिक तापमान सहना पड़ता है, वही कोयला हीरा बन जाता है। सच्चाई और बहादुरी की यथार्थता जाँचने की एक ही कसौटी है कि प्रलोभन और दबाव के आगे झुका गया या नहीं। जो तनकर खड़ा हो जाता है उसकी हिम्मत देखकर मुसीबत भी डरकर वापिस लौट जाती है।

योगीजन तपश्चर्या के बल पर ही ऋद्धि-सिद्धियों का वरण करते हैं। सप्त ऋषि इतने ऊँचे पद पर इसी आधार पर पहुँचे। भगीरथ गंगा को भूमि पर लाने में और पार्वती ने शिव से विवाह करने में सफलता पाई। देवताओं को तपस्वी दधीचि की हड्डियाँ माँगकर इंद्रवज्र बनाना पड़ा। तपस्वी देवताओं से बड़े होते हैं, वरदान के लिए उन्हें ही स्वर्ग से धरती पर आना पड़ता है।

विशेष प्रयोजन के लिए विशिष्ट व्यक्ति विशेष प्रकार की तप-साधना करते हैं, पर सर्वसाधारण के लिए उसका सरल उपाय एक ही है कि उच्च उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संयम-साधना एवं परमार्थ प्रयोजनों के लिए कष्ट सहने, पुरुषार्थ करने के लिए समग्र साहसिकता के साथ प्रयत्नशील रहें—अनीति के साथ संघर्ष में आपत्ति सहने के लिए भी।

☐ ☐

स्वाध्याय में प्रमाद न करें

शास्त्र की तीन प्रमुख अनुज्ञाएँ हैं—(१) सत्यं वद (२) धर्मं चर (३) स्वाध्यायानमा प्रमदः। अर्थात् सत्य बोलें, धर्म को धारण करें और स्वाध्याय में प्रमाद न करें। इस निर्धारण के अनुसार सत्य और धर्म के ही समकक्ष स्वाध्याय को भी प्रमुखता दी गई है।

एक दूसरी गणना पवित्रता क्रम की है। मन, वचन और कर्म तीनों को अधिकाधिक पवित्र रखा जाना चाहिए। इस निर्धारण में मन की पवित्रता को प्रमुख माना गया है। इसके बाद वचन और कर्म है। मन की पवित्रता के लिए स्वाध्याय वचन की पवित्रता सत्य से और कर्म का वर्चस्व धर्म से निखरता है।

सत्य और धर्म की महत्ता के संबंध में सभी जानते हैं। भले ही उनका परिपालन न करते हों, किन्तु स्वाध्याय के संबंध में कम लोग ही यह निर्णय करते हैं कि उसकी महत्ता भी सत्य और धर्म के परिपालन से किसी प्रकार कम नहीं है। उसकी उपेक्षा करने पर इतनी ही बड़ी हानि होती है जितनी कि सत्य और धर्म के संबंध में उदासीन रहने पर।

जिन दिनों इस धरती पर देवमानवों का बाहुल्य था उन दिनों सत्य और धर्म का तो ध्यान रखा ही जाता था, पर स्वाध्याय को भी कम महत्त्व का नहीं माना जाता था। उसके लिए प्रत्येक विचारशील अपनी तत्परता बनाए रहता था।

स्वाध्याय का शब्दार्थ है—अपने आपका अध्ययन। यह कार्य शिक्षितों के लिए शास्त्रों के नियमित अध्ययन द्वारा संपन्न होता था। शास्त्र उन ग्रन्थों को कहते हैं, जो आत्म-सत्ता और उसकी महत्ता का बोध कराएँ, कर्त्तव्य पथ की जानकारी एवं प्रेरणा प्रदान करे। शास्त्रों के नाम पर आजकल उन कथा-पुराणों को भी सम्मिलित कर लिया गया है, जिनमें किसी काल की घटनाओं का विवरण है अथवा मिथकों का समुच्चय भरा पड़ा है। यों प्रकारांतर से किसी प्रकार

उनकी व्याख्या-विवेचना करते हुए ही आत्म-विकास के संदर्भ में कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं, पर वह टेढ़ा मार्ग है। हर किसी के समझने-समझाने का नहीं, कोई विलक्षण बुद्धि वाले ही उस विशाल समुद्र को मथकर रत्नों को निकाल सकते हैं और जिज्ञासुओं को ग्रहण करने योग्य सामग्री प्रदान कर सकते हैं।

शास्त्र के अर्थ में श्रुति-स्मृति, उपनिषद् आरण्यक जैसे तत्त्वज्ञान की विवेचना करने वाले ग्रंथ ही मूल प्रयोजन की पूर्ति कर सकते हैं। उन्हीं के आधार पर स्वाध्याय से उस विस्मृति को स्मृति के रूप में परिणित किया जा सकता है, जो आमतौर से उपेक्षित बनी रहती है। शरीर प्रत्यक्ष है, वही हमारे विभिन्न प्रयोजनों की पूर्ति करता है। इंद्रिय संवेदनाओं के आधार पर रसास्वादन भी वही करता है। मान-अपमान, हानि-लाभ भी उसी के अनुभव में आते हैं। रूप-सौंदर्य और शृंगार-सज्जा भी उसी की होती रहती है। नाम-रूप भी उसी का देखने-सुनने को मिलता रहता है। इसलिए सामान्य स्तर की चेतना यही स्वीकार कर लेती है कि वह शरीर मात्र है। उसी की प्रसन्नता के लिए मर्यादाओं को तोड़ा भी जाता है और वर्जनाओं की अवहेलना भी होती रहती है। ऐसे अवसरों पर यह स्मरण ही नहीं रहता कि शरीर के पीछे कोई चेतन आत्मा भी है और उसकी भी कुछ आवश्यकताएँ हैं, उसे भी संतोष एवं उल्लास चाहिए। इस विस्मृत का परिणाम यह होता है कि आत्म-सत्ता शरीर तक ही सीमित परिलक्षित होने लगी है। उसी के निमित्त स्वार्थ साधन के छोटे-बड़े प्रयत्न चलते रहते हैं। समूची जीवनी शक्ति प्रायः उसी के लिए उत्सर्ग हो जाती है। यह एकांगी दृष्टिकोण आत्म-कल्याण के लिए, चेतनात्मक उत्कर्ष के लिए भी कुछ करना है उसका स्मरण ही नहीं आने देता। यह एक बहुत बड़ा व्यवधान है जिसके कारण मनुष्य भटकाव में उलझा रहता है और अनर्थ करता, दुःख भोगता और भविष्य को अंधकारमय बनाता रहता है। इस विडंबना से बचने का एक मात्र उपाय यही है कि स्वाध्याय के सहारे आत्म-चेतना की सत्ता, महत्ता और उसके लिए प्रगतिक्रम की समग्र जानकारी प्रतिदिन स्मृति-पटल पर अंकित की जाती रहे। शरीर तो अपनी हलचलों और प्रत्यक्ष गतिविधियों के

सहारे अपनी आवश्यकताएँ पूरी कराता रहता है, पर आत्मा के लिए कोई ऐसा क्रियात्मक व्यवहार सामने नहीं रहता जिसके आधार पर आत्म-विस्मृति को सजीव स्मृति में बदला जा सके। यह कार्य स्वाध्याय द्वारा ही संपन्न होता है, इसके अतिरिक्त और कोई उपाय है नहीं। मनुष्य की स्मृति क्षणिक है, वह घटनाक्रम बदलते ही विस्मृति में बदल जाती है। ऐसा आत्म क्षेत्र में न होने पाए इसलिए स्वाध्याय से हर दिन उसे सींचना और हरा रखना पड़ता है।

आमतौर से शास्त्रों का पठन-पाठन ही स्वाध्याय में गिना जाता है। पर अब वह स्थिति नहीं रही जिसमें जीवन का सीमित और छोटा स्वरूप था और उसकी समस्याओं का समाधान श्रद्धालु जन शास्त्र-वचनों के आधार पर पूरा कर लिया करते थे। अब चिंतन का क्षेत्र पहले की अपेक्षा कहीं बड़ा हो गया है। विश्व के अनेकानेक दर्शनों को आपस में गुंथने और आदान-प्रदान करने का अवसर मिला है। तर्क, तथ्यं, प्रमाण और उदाहरण हर संदर्भ में माँगे जा रहे हैं। बढ़ते हुए भौतिकवाद की प्रतिक्रिया भी प्रत्यक्षवाद को सामने लाई है। ऐसी दशा में शास्त्र .वचन श्रद्धालुओं के ही काम के रह गए हैं। बुद्धिवादी उतने भर से संतुष्ट नहीं होते, उनके लिए विशद और सशक्त समाधान चाहिए। यह कार्य अपने युग के आत्म-चेतना पर गहरा प्रकाश डालने वाले मनीषियों ने किसी सीमा तक पूरा किया है ? इसका आश्रय लिए बिना जिज्ञासा को तृप्ति मिलती नहीं। इसलिए आज के लिए शास्त्र शब्द की विस्तृत व्याख्या करते हुए उसमें वह सारा बौद्धिक प्रतिपादन सम्मिलित करना पड़ेगा, जो चेतना के लिए समाधान और मार्गदर्शन प्रस्तुत करे। आत्म-क्षेत्र को तथ्यों के आधार पर विनिर्मित तत्त्वज्ञान का सहारा मिल सके। अब ऐसे ही साहित्य को स्वाध्याय प्रयोजनों के लिए चयन करना समीचीन होगा।

एक और बड़ा प्रश्न है आकांक्षा का। संसार भर में प्रायः एक चौथाई से भी कम संख्या में पढ़े-लिखे हैं, तीन चौथाई संख्या तो निरक्षरों की है। जो साक्षर नहीं हैं वे शास्त्र या साहित्य कैसे पढ़े ? यदि सुनने-सुनाने की बात सोची जाए तो ऐसा सत्संग भी कहाँ

उपलब्ध है ? जो सुनने वालों की मनोभूमि को देखते हुए आत्म-कल्याण के लिए आवश्यक दूरदर्शी विवेकशीलता का पक्ष प्रस्तुत कर सके। सत्संग के नाम पर तो आजकल जहाँ-तहाँ मनोविनोद ही चलता रहता है, उसका श्रवण भ्रांतियों को घटाना नहीं उलटा बढ़ाना है। सो भी इस व्यस्तता के समय में दुर्लभ ही है, ऐसे ज्ञानी जन कहाँ है—जो परमार्थ भावना से उच्चस्तरीय तत्त्वज्ञान को सर्व साधारण के लिए सुलभ बनाने में नियमित रूप से अपना समय लगाते रहें।

ऐसी दशा में स्वाध्याय की एकाकी आवश्यकता भावना और चिंतन से पूरी हो सकती है। सुविधानुसार एकांत में बैठकर एक चित्त से आत्म-स्थिति की समीक्षा की जा सकती है। आदर्शवाद की निर्धारणाओं में अपना जीवनक्रम कितना पीछे है ? इन त्रुटियों को निष्पक्ष भाव से, पैनी दृष्टि से स्वयं खोज निकालना 'मनन' है। इस आत्म समीक्षा के लिए हर कोई दिनभर में कोई न कोई समय निकाल ही सकता है। उन कमियों को खोज सकता है, जो उसे उत्कृष्टता की दृष्टि से पिछड़ा हुआ बनाए हैं। त्रुटियाँ ध्यान में आती रहें और उन्हें सुधारने का अनवरत प्रयत्न चलता रहे तो मनन को सार्थक स्तर का समझा जा सकता है।

मनन का दूसरा पक्ष है—चिंतन। चिंतन अर्थात् दुष्प्रवृत्तियों के उन्मूलन एवं सत्प्रवृत्तियों के संवर्धन के लिए उपाय-विचारों का निर्धारण। योजना इस प्रकार की बननी चाहिए कि दिनचर्या में दोषों की कटौती और सद्‌गुणों की बढ़ोत्तरी का क्रम व्यवहारिक रूप में कार्यान्वित होता रहे। नित्य राईभर दोष घटाने और नित्य तिल-तिलभर सद्‌गुण बढ़ाने से भी एक समय ऐसा आ सकता है, जिसमें शरीर सेवा की तरह आत्म-साधना भी भली प्रकार बन सके और स्वाध्याय का वास्तविक प्रयोजन पूरा हो सके।

□□

ईश्वर का विश्वास और आराधना

सृष्टिक्रम नियम-व्यवस्था के साथ चल रहा है। ग्रह-तारक अपनी-अपनी धुरी और कक्षा पर बिना एक क्षण का भी आगा-पीछा किये जन्मजात रूप से चलते हैं। पानी और बीज अपने अनुरूप ही संतति उत्पन्न करते हैं। दिन, रात और ऋतु-परिवर्तन के क्रम में एक सुव्यवस्था बनी हुई है। इसी प्रकार कर्मफल भी एक दैवी व्यवस्था है। दूध को दही बनने में, बीज को पल्लवित होने में कुछ समय तो लग जाता है किंतु कृत्यों के अनुरूप भले-बुरे फलितार्थ निश्चित रूप से उपलब्ध होते रहते हैं। यदि ऐसा न होता तो यहाँ जंगल का कानून चलता, जिसकी लाठी तिसकी भैंस' वाली नीति का बोलबाला रहता, पर ऐसा है नहीं। प्रयत्न करने वाले पहलवान विद्वान्, धनवान्, कलाकार बनते है। जो बोया जाता है वही काटा भी जाता है। नशा पीने वाले उन्मत्त बनते और विष खाने वाले प्राण गँवा बैठते हैं—यह कर्मफल की सुनिश्चित व्यवस्था का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

किंतु मनुष्य आमतौर से इसी प्रसंग में भारी भूल करता है। तत्काल फल मिलता रहा होता तो झूठ बोलने वाले के मुँह में छाले पड़ जाते, चोरी करने वाले के हाथ को लकवा मार जाता, व्यभिचारी नपुंसक हो जाते तो न धर्म-मर्यादा की आवश्यकता पड़ती और न ईश्वर को साक्षी बनाने की। यह छूट मनुष्य को इसलिए मिली है कि वह अपनी विवेक-बुद्धि से काम ले, अपनी गौरव-गरिमा को ध्यान में रखते हुए सदाशयता का परिचय दें और कुकर्मों से बचें, पर प्रमाद तो प्रमाद ठहरा। भुलक्कड़पन की आदत भी मनुष्य को कम हैरानी में नहीं डालती। दूसरों को नशेबाजी के दुष्परिणाम भुगतते देखते हुए भी मनुष्य उस खतरे पर ध्यान नहीं देता और देखादेखी उसी कुटेव को अपनाने लगता है।

आत्मिक विकास इस स्तर का न होने से एक भारी कमी रह जाती है कि उचित-अनुचित का भेदभाव भी न बन पड़े और जो मन में आए सो बिना आगा-पीछा सोचे करने लगे। स्वेच्छाचार ही उद्धत अहंकार की प्रतिकृति है। अनगढ़ व्यक्ति मर्यादाओं और वर्जनाओं की उपेक्षा करके स्वच्छंदतापूर्वक संकीर्ण स्वार्थपरता से प्रेरित होकर वह करता रहता है, जो उसे नहीं करना चाहिए। यही कारण है कि प्रगति की समस्त सुविधाएँ और संभावनाएँ रहते हुए भी लोग उलझनों में उलझे और संकटों के दलदल में फँसे दिखाई पड़ते हैं। अन्य जीव चैन की जिंदगी जी लेते हैं, पर मनुष्य को तो हर घड़ी विपन्न-उद्विग्न स्थिति में रहना पड़ता है।

यह स्वेच्छाचार कैसे रुके ? व्यक्ति शालीनता से अनुबंधित कैसे रहे ? समाज में परस्पर सहयोग और सद्भाव का प्रचलन कैसे रहे ? इन प्रश्नों का एक ही उत्तर मिलता है कि किसी नियामक सत्ता का अस्तित्व वह सच्चे मन से अनुभव करे। उसे व्यापक और सर्वदर्शी माने तथा उसकी न्यायनिष्ठा पर निश्चित ही विश्वास करे। इस भावना के साथ ईश्वर को मान्यता देना ही एक सच्ची आस्तिकता है।

ईश्वर को मानते और पूजते तो असंख्यों हैं, पर उनकी मान्यता भ्रांतियों से भरी होती है। फलतः उसका जो प्रतिफल सज्जनता और उदारता के रूप में प्रकट होना चाहिए, वह नहीं होता। लोग ईश्वर को सभी मानवी दुर्बलताओं से घिरा हुआ एक ऐसा व्यक्ति मानते हैं जिसे अपने पक्ष में थोड़े-से प्रलोभन या वाक्-छल द्वारा सहज ही बहकाया-फुसलाया जा सकता है। उससे मनमानी मुरादें पूरी कर लेने का षड्यन्त्र रचते हैं। इसके लिए गिड़गिड़ाते हुए स्रोत पाठ भी करते हैं और यत्किंचित पूजा-पत्री के नाम पर उपहार भी प्रस्तुत करते हैं। उद्देश्य चापलूसी रिश्वत जैसा ही होता है। भगवान प्रत्यक्ष दीखते तो शायद कुछ अधिक करने की हिम्मत भी की जाती, पर एक ओर पूजन, दूसरी ओर अविश्वास का मन बना रहने से इतनी ही कुछ चिह्न पूजा की जाती है, जिसके निरर्थक चले जाने पर भी कोई बड़ा जोखिम न उठाना पड़े। यही विडंबना है जो तथाकथित

ईश्वर भक्ति के नाम पर लकीर पीटने जैसी चिन्हपूजा होती है। उसका प्रतिफल भी घूणाक्षर न्याय से कुछ उल्टा-सीधा हो तो उसे अनायास ही मिला समझना चाहिए, क्योंकि ईश्वर के यहाँ अंधेरगर्दी नहीं है। उसकी न्याय-तुला ही सबका यथोचित निर्णय करती है।

ईश्वर को न किसी से प्रेम है, न द्वेष, न वह किसी पर वरदान बखेरता है, न किसी को शाप देता है। उसकी विधि व्यवस्था में जो अनुशासन पालते हैं, वे सुखी रहते हैं, उन पर ईश्वर को प्रसन्न समझा जा सकता है। जो मर्यादाएँ तोड़ते हैं, कुमार्ग पर चलते हैं वे अपने कृत्यों का दुष्परिणाम भुगतंते हैं, इसे ईश्वर की प्रसन्नता समझ सकते हैं। वस्तुतः ईश्वर एक नियम-अनुशासन में बँधा है और अन्य सभी प्राणी तथा पदार्थ इसी अनुबंध का पालन करने के लिए बाधित हैं। उनमें न किसी के साथ कड़ाई बरती जाती है और न नरमी दिखाई जाती है। मनुहार या उपहार देकर उसे पक्षपात के लिए सहमत भी नहीं किया जा सकता, इसलिए प्रत्येक आस्तिक का कर्त्तव्य है कि ईश्वर को सर्वव्यापी-न्यायकारी मानकर अपने चिंतन और चरित्र को सही-खरा बनाए रखें, उसमें न स्वेच्छाचार स्वयं बरते और न उच्छृंखलता किसी और को बरतने दें।

नियंता की क्षमताएँ तो असंख्य हैं, वे विभिन्न प्रयोजनों के लिए विभिन्न प्रकार से प्रयत्न करते हैं। इसमें मानवी अंतराल को प्रभावित करने वाली धारा सज्जनता और सदाशयता की है, उसे सत्प्रवृत्तियों का समुच्चय भी कह सकते हैं। सूर्य की धूप निकलते ही कमल के फूल खिलने लगते हैं। इसी प्रकार परब्रह्म का सान्निध्य होते ही मनुष्य के गुण, कर्म, स्वभाव, उत्कृष्टता की महक से महकने लगते हैं। भक्ति कोई भावुक आवेश नहीं है, जिसमें ईश्वर के दर्शन जैसा कोई आग्रह रोपा जा सके। जो सर्वव्यापी है, जो कण-कण में समाया हुआ है वह स्वभावतः अपने पास भी है। बाहर के वातावरण में भरा हुआ है और अंतरंग में, अन्तःकरण में भी उसकी महत्ता ओतप्रोत है। अज्ञान के कारण ही वह दूर प्रतीत होता है। विवेक उभरने पर वह अति समीप दृष्टिगोचर होने लगता है।

विराट-ब्रह्म भी ईश्वर का दृश्यमान स्वरूप है। शक्ति स्वरूप सर्वव्यापी सत्ता का वास्तविक स्वरूप तो निराकार ही हो सकता है। ध्यान धारणा का आध्यात्मिक साधनापरक उद्देश्य पूरा करने के लिए कोई प्रतिमा बनानी पड़ती है। मनुष्य की कल्पना मनुष्य देहधारी भगवान ही रच सकता है—इसलिए अपनी मान्यता एवं श्रद्धा के अनुरूप अवतारों के रूप में देवताओं की छवि जैसी आकृतियाँ कल्पित कर ली जाती हैं। अनेक संप्रदायों के भगवान अनुयायियों की मान्यता के अनुरूप ही सृजे गये हैं, इसीलिए 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' के अनुरूप एक को ही बहुत रूप में दृष्टिगोचर होने वाला कहा गया है।

ईश्वर का विराट् दृश्यमान स्वरूप यह विराट् विश्व ही है। अर्जुन को, यशोदा को, कौशिल्या को, काकभुशुण्डि को इसी रूप में भगवत् दर्शन हुए थे। चर्म-चक्षुओं से यह रूप कोई भी कभी भी देख सकता है। विराट् विश्व की पूजा उसकी स्वच्छता, प्रगति एवं सुसज्जा के रूप में ही की जा सकती है। अबकी अपेक्षा अगला समय अधिक समृद्ध, समुन्नत, प्रगतिशील, सुसंस्कृत हो, इसके लिए प्राणपण से प्रयत्न करना—यह विराट् की उपासना है। ऐसे भावनाशील संसार को भगवान का उद्यान मानकर स्वयं कर्त्तव्य परायण माली की तरह उसके उत्कर्ष-अभ्युदय में अपना समय, श्रम, मनोयोग एवं साधन भी लगाते रहते हैं। यह कर्मयोग भी है, गीता में इसी का प्रधान प्रतिपादन है।

आस्तिकता की भावना मनुष्य की उच्छृंखलता पर अंकुश लगाती है। ऊँट को नकेल, बैल को नाथ, घोड़े को लगाम, हाथी को अंकुश के सहारे वश में किया जाता है। सरकस के जानवरों को उनका शिक्षक चाबुक से डराकर इच्छित कृत्य सिखाता और कराता है। ईश्वर विश्वास भी यही करता है, उस मान्यता के मार्ग पर लोग कुमार्ग पर चलना छोड़कर सन्मार्ग अपनाते हैं। इसी प्रकार समाज की सुव्यवस्था स्थिर रहती है।

❑ ❑

सरल और सर्वोपयोगी आसन व्यायाम

आसन बैठने-चलने के तरीके को कहते हैं या फिर बैठने के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले बिछावन को। किंतु योग-साधना में अंगों को तोड़-मरोड़कर शारीरिक व्यायाम की विधा को आसन कहते हैं। ध्यान के लिए कमर सीधी रखते हुए पालथी मारकर बैठने को सुलभासन कहते हैं। पैरों को एक-दूसरे के ऊपर रखकर एड़ी ऊपर की ओर रखने की अपेक्षाकृत कुछ कठिन विधा को पद्मासन कहा जाता है। इन विधियों से बैठने पर श्वाँस-प्रश्वाँस क्रिया ठीक से बन पड़ती है और ध्यान की एकाग्रता सरल हो जाती है।

थकान दूर करने के लिए श्वासन का प्रचलन हैं। शरीर को ढीला छोड़कर निर्जीव जैसी स्थिति में चित्त पड़ा रहने की इस क्रिया द्वारा जागृत रहते हुए सोने जैसा विश्राम मिलता है। थकान जल्दी ही दूर हो जाती है, इसे योग निद्रा या योग तन्द्रा भी कहते हैं। मानसिक एकाग्रता की पूर्व तैयारी के रूप में इस आसन का प्रयोग किया जाता है। कड़ा श्रम करने या मानसिक श्रम से थकान आने पर भी इस प्रयोग को अपनाने से शरीर का तनाव, भारीपन दूर हो जाता है। जिन्हें गहरी निद्रा न आने की शिकायत हो वे भी इसे प्रयोग कर सकते हैं, उन्हें इसका लाभ मिलने लगेगा।

अन्य आसनों का प्रयोग एक ही जगह परस्पर सरल व्यायामों के रूप में किया जाता है। दंड-बैठक जैसे कई व्यायाम दुर्बल काया वालों के लिए उपयुक्त नहीं पड़ते, इसलिए उनके लिए आसनों को ही सुविधाजनक माना गया है।

आहार से रस-रक्त बनता है, इसे सभी जानते हैं। पर सबमें यह शर्त भी जुड़ी हुई है कि जो खाया गया है उसका पाचन ठीक प्रकार हो। रक्त-संचार एवं श्वास-प्रश्वास की क्रिया शिथिल न हो। इन आशंकाओं को दूर करने के लिए हल्के स्तर के व्यायामों की

सीमित-मात्रा में करते रहने से काम चल जाता है। उस आवश्यकता की पूर्ति आसनों के द्वारा सरलतापूर्वक हो जाती है।

दुर्बल शरीर वालों के लिए तेज चलते रहने, टहलने अथवा खुली हवा में दौड़ने का व्यायाम सर्वोत्तम है। ड्रिल के समय की जाने वाली 'क्विक मार्च' के अनुरूप दोनों हाथ हिलाते हुए, मुँह बंद रखते हुए थोड़ी तेज चाल से चलने की विधि अपनाई जा सकती है। समय की सुविधा और शरीर की स्थिति को देखते हुए इसकी अवधि निर्धारित की जा सकती है। समय तो उषाकाल का ही सर्वोत्तम रहता है। जिन्हें सुविधा हो वे शाम को भी वही क्रम दुहरा सकते हैं। ध्यान इतना ही रखना है कि जिस सड़क पर चला जाए वह गर्द-गुहार वाली न हो। उस क्षेत्र में दुर्गंध न उठती रहती हो, धुआँ न छाया रहता हो, अप्रिय दृश्यों वाले कसाईखाने जैसों में गुजरना भी मन की प्रसन्नता को घटा देता है। इसलिए टहलने के लिए वह दिशा चुननी चाहिए, जिसमें कोलाहल कम से कम हो। वृक्षों की हरीतिमा दृष्टिगोचर होती रहे।

व्यायाम की उपयोगिता आहार के समतुल्य ही मानी गई है। बैठे रहने वालों का भोजन ठीक तरह नहीं पचता, ऐसी दशा में उनकी दुर्बलता बढ़ती ही जाती है और मंद रुग्णता का रूप धारण करती है फिर उन्हें कितना ही बहुमूल्य भोजन दिया जाए। यह कठिनाई विशेष रूप से उन लोगों के सामने आती है, जिन्हें एक जगह बैठकर काम करना पड़ता है। मुनीम, क्लर्क, अफसर, लेखक आदि के कार्य प्रायः ऐसे ही होते हैं, जिनमें भाग-दौड़ के लिए नहीं के बराबर ही गुंजायश रहती है। योगीजनों के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। उन्हें जप, तप, ध्यान-धारणा, स्वाध्याय, चिंतन-मनन जैसे कार्यों में ही लगा रहना पड़ता है, भोजन करने में नींद के घंटे भी घट जाते हैं। ऐसी दशा में यह आवश्यक हो जाता है कि उनके लिए किसी सरल श्रम का, हल्के व्यायाम का निर्धारण रहे अन्यथा सर्वदा बैठे रहने पर तो निष्क्रिय चाकू को जंग खा जाने जैसी स्थिति में से शरीर को गुजरना पड़ेगा। अचल पड़ा रहने वाला तालाबों का पानी सड़ जाता है, जबकि झरने की पतली धार भी

बहती रहने के कारण ताजगी लिए रहती है। दिनचर्या में शारीरिक श्रम का, भाग-दौड़ का समावेश आवश्यक है, ताकि सभी अंग-अवयवों को गतिशील रहने का अवसर मिलता रहे।

आसनों की विधा विशेषतया बुद्धिजीवियों की, योगीजनों की न्यून श्रमशीलता को ध्यान में रखकर बताई गई है। शक्ति का मानसिक स्तर पर अधिक व्यय होना और शरीर का अचार के घड़े की तरह जहाँ का तहाँ रखा रहना ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करता है, जिसमें रहकर शरीर गड़बड़ाने लगे, साथ ही उस क्षति का प्रभाव मन पर भी पड़े। शारीरिक अस्वस्थता जैसे-जैसे बढ़ने लगती है, वैसे-वैसे मानसिक श्रम भी कम होने लगता है। उसका स्तर गिर जाता है, अतएव संतुलित स्थिति को बनाए रहने के लिए मानसिक श्रम की तरह शारीरिक श्रम को भी दिनचर्या में समुचित स्थान देना चाहिए।

व्यायामों के अनेक प्रकार हैं। अखाड़ा सँभालने वाले पहलवानों के लिए दूसरे व्यायाम हैं। खेल-कूदों की प्रतियोगिता में सम्मिलित होने वाले उस आवश्यकता की पूर्ति खेल के मैदानों में पूरी करते हैं। जिन्हें अवकाश है, वे वृद्धजन सुबह-शाम कई मील टहलने का क्रम बनाये रह सकते हैं। किसानों, श्रमिकों, पोस्टमैनों का परिश्रम तो उनकी आजीविका वाले कार्यों के साथ ही चलता रहता है। लुहार-बढ़ई जैसे कड़ी मेहनत करने वाले अपने दैनिक कार्य को ही व्यायाम समझ सकते हैं। उनके लिए इस संदर्भ में अतिरिक्त कार्यक्रम अपनाने की आवश्यकता नहीं है। प्रश्न उन्हीं का है, जिन्हें अधिक समय बैठे-बैठे गुजारना पड़ता है। दफ्तर में भी उनका आसन कुर्सियों पर जमा रहता है। घर लौटने पर टी. वी. देखने, रेडियो सुनने, अखबार-पुस्तक पढ़ने जैसे शरीर का श्रम न देने वाले कार्यों में लग जाते हैं। इनके लिए हल्के व्यायामों की विधा अपनाना एक प्रकार से अनिवार्य स्तर की है। इसकी उपेक्षा की जाए तो शरीर न केवल आलसी बन जाएगा वरन् उनकी मस्तिष्क क्षमताओं में भी निरंतर कमी होती चली जाएगी।

महिलाओं में से अधिकांश का कार्यक्षेत्र घर की चहारदीवारी के भीतर ही होता है, उन्हें बुहारी लगाने, बर्तन माँजने, रसोई बनाने, बच्चे सँभालने वाले काम करने पड़ते हैं। उनमें समय कितना ही क्यों न लग जाए, व्यस्तता कितनी ही क्यों न बनी रहे, पर किसी को वैसा श्रम करने को नहीं मिलता जो दिन में कम से कम एक-दो बार परिश्रमजन्य पसीना निकालकर अवयवों में नई फुर्ती का संचार कर सके। इस वर्ग के लिए भी आसनों वाला व्यायाम सुविधाजनक पड़ता है। औसत व्यक्ति आधा घंटा रोज आसन-व्यायाम कर लिया करे तो गाड़ी ढुलकती रह सकती है।

आसन व्यायामों के अनेकानेक प्रकार हैं, उनकी संख्या ८४ तक गिनाई गई है, पर यह प्राचीनकाल के निर्धारण हैं। उन्हें जादू चमत्कार या पत्थर की लकीर जैसी नहीं मान लेनी चाहिए। किसी आसन विद्या से परिचित व्यक्ति की सहायता से अपने शरीर की स्थिति के अनुरूप आसन चुन लेने चाहिए। प्रयोग करने पर वे ठीक पड़े तो अपनाते रहना चाहिए, यदि अनावश्यक दबाव पड़ता प्रतीत हो तो उन्हें बदल लेना चाहिए।

आसनों का सामान्य सिद्धांत यह है कि हाथ, पैर, कमर, गर्दन, कंधे, पीठ आदि सभी जोड़ों वाले अंगों को बराबर फैलाया जाए और फिर उन्हें सिकोड़कर आरंभिक स्थिति में लाया जाए। फैलाना भी धीरे-धीरे किया जाए और सिकोड़ना भी धीरे-धीरे। अंगों को आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ, ऊपर-नीचे छहों स्थिति में गतिशील होने का अवसर दिया जाए। कोई अवयव ऐसा न बचे जिसकी माँसपेशियों और जोड़ों को परिश्रम न करना पड़े। इस मौलिक सिद्धांत के आधार पर अपने अनुकूल आसन स्वयं भी बनाए जा सकते हैं। दुर्बल और रोगी बिस्तर पर पड़े-पड़े भी यह अंग-संचालन की क्रिया करते और इसका समुचित लाभ उठाते रह सकते हैं।

❑ ❑

तीन सरल प्राणायाम

हृदय द्वारा रक्त संचार होता है। रक्त दीखता है, इसलिए उसकी उपयोगिता-आवश्यकता सर्वसाधारण की दृष्टि में रहती है और हृदय प्रयासों को बहुमूल्य माना जाता है और उसे महत्त्व भी अधिक मिलता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरा तंत्र है जिसकी गरिमा लगभग इसी स्तर की है, वह है—श्वसन प्रक्रिया। श्वांस-प्रश्वांस नाक से ली जाती है, फेफड़े में पहुँचती है, इसके बाद उसका प्रवाह शरीर की सभी कोशिकाओं तक पहुँचता है। इस पहुँच के कारण ही तापमान संतुलित रहता है, जीवनी शक्ति के रूप में ऑक्सीजन मिलती है, साथ ही हर क्षण शरीर के हर क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली गंदगी का भी एक बड़ा भाग यही बुहारी बुहारकर लौटते समय अपनी टोकरी में समेट ले जाती है। यह क्रिया अदृश्य रूप में होती है, उसका प्रत्यक्ष दर्शन न होने से अनुभव भी नहीं होता। इसलिए महत्त्व भी नहीं समझा जाता, इतने पर भी उसका महत्त्व उतना ही है जितना कि हृदय द्वारा किये जाने वाले रक्त-संचार का।

अन्न, जल और वायु को जीवन का प्रमुख आधार माना जाता है। बिना भोजन किए मनुष्य प्रायः एक महीना जीवित रह सकता है। बिना पानी के भी एक सप्ताह जिया जा सकता है, किंतु बिना साँस लिए तो पाँच मिनट जीवित रहना भी कठिन है। फाँसी लगने पर प्रथम आघात श्वाँस प्रणाली का बंद हो जाना ही होता है। गरदन की हड्डी टूटने पर भी कुछ समय जीवित रहा जा सकता है, पर दम घुटने पर तो प्राणांत ही समझा जाना चाहिए क्योंकि समस्त अवयवों के प्राणवायु की उपलब्धि रुक जाती है। जो गंदगी पैदा होती है, उसे बाहर निकलने की व्यवस्था न रहने से विषाक्तता फैलती है और जीवन का अंत हो जाता है। इससे प्रकट है कि शरीर में जो भी तत्त्व काम करता है उनका रक्त के अतिरिक्त दूसरा आधार श्वसन प्रक्रिया ही है। शरीर के समस्त छोटे-बड़े अवयवों का परिपोषण प्रायः उसी एक पर निर्भर है।

साँस लेने का सही तरीका बिरलों को ही मालूम होता है। आमतौर से लोग उथली साँस लेने के आदी होते हैं। बिना परिश्रम के समय बिताने पर झुककर बैठने पर तो यह प्रवाह और भी अधिक मंद हो जाता है। उथली साँस में हवा की मात्रा प्रायः आधी ही शरीर में पहुँचती है। वह फेफड़े के मध्य भाग को ही प्रभावित करती है, शेष भाग निष्क्रिय पड़ा रहने के कारण दुर्बल बन जाता है। उसमें खाँसी, क्षय, प्लूरिसी, दमा आदि के रोग कीटाणु अपने लिए आसानी से जगह बना लेते हैं और घर बनाकर मजबूती के साथ अपनी वंश वृद्धि करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरी हानि यह होती है कि शरीर के अंग-प्रत्यंगों को पोषक ऑक्सीजन की मात्रा कम पहुँचती है। उस कमी के कारण उनकी समर्थता घटती जाती है। सफाई भी पूरी तरह नहीं हो पाती, इसलिए सभी जीवाणु अशक्त होते जाते हैं। क्रिया शक्ति घटती जाती है और गंदगी बढ़ने से रुग्णता मंद गति से बढ़ते-बढ़ते अदृश्य से दृश्य बन जाती है। बीमारियाँ भीतर से जन्म लेकर बढ़ते-बढ़ते बाहरी क्षेत्र में फूट पड़ती दीखने लगती हैं। कारण साधारण होते हुए भी उनकी क्षति-विकृति असाधारण रूप से दृष्टिगोचर होने लगती है। अधूरी साँस लेना ऐसा ही है जैसा आधे पेट भोजन करना या पानी की प्यास को मारकर गला तर करने जितना पानी पीकर काम चलाना। उसके कारण जो क्षति हो सकती है, उसका अनुमान लगाया जा सकना किसी के लिए भी कठिन नहीं होना चाहिए।

इस भूल का आरंभ छोटी-सी गलती से होता है और उसका निराकरण थोड़ी-सी सावधानी से पूरा हो सकता है। सीने को आगे की ओर झुकाकर बैठना, काम चलाऊ आधी-अधूरी साँस लेकर काम चलाते रहना—इस प्रकार की अधूरी साँस असावधान रहने के कारण चलती रहती है। इसे असावधानी का ही अभिशाप कहना चाहिए, जिसके कारण आधी स्वास्थ्य संपदा एवं एक तिहाई आयु इसी नासमझी के कारण नष्ट हो जाती है। आहारों से पोषण मिलता है—इस तथ्य को सभी जानते हैं। इसी प्रकार यह भी जानना चाहिए कि साँस भी जीवन प्रदान करती है, पर वह करती तभी है जब वह पूरी और गहरी ली जाए। फेफड़ों को पूरी तरह भर दे, शरीर की सभी कोशिकाओं का पोषण करे। रक्त को स्वच्छ एवं सशक्त बनाए रहने की क्षमता साँस के द्वारा मिलने वाली प्राण वायु द्वारा ही पूरी होती है।

योगशास्त्र की तरह शरीरविज्ञानी भी प्राणायाम की महत्ता स्वीकार करता है, उसकी आवश्यकता-उपयोगिता का प्रतिपादन करता है। प्राणायाम के अनेक तरीके हैं, उनके अपने-अपने विषय और लाभ हैं। योग सिद्धि से लेकर ध्यान-धारणा एवं प्रसुप्त शक्ति-केंद्रों के जागरण में उनका अपना-अपना प्रभाव है। प्राण विद्या एक स्वतंत्र विद्या है जिसके आधार पर सर्वतोमुखी सशक्तता का संपादन किया जाता है। उनके चमत्कारी लाभ भी पाए जा सकते हैं। कहा जाता है कि प्राण के वश में होने पर मन वश में हो जाता है और जिसका मन निगृहीत होता है, उसे योग पारंगत एवं सिद्ध पुरुष कहा जाता है।

इन पंक्तियों में विशेष प्राणायामों की चर्चा न करके केवल उन सवसुलभ विधियों पर प्रकाश डाला जा रहा है, जिसे हर स्थिति का व्यक्ति हर परिस्थिति में कार्यान्वित करता रह सकता है।

सरलतम और निरंतर होता रहने वाला प्राणायाम यह है कि गहरी साँस लेने की आदत डाली जाए। पूरी साँस खींची जाए ताकि हवा से पूरे फेफड़े भर जाएँ। साँस को रोकना आवश्यक नहीं है। पुरानी प्राणायाम पद्धति में साँस को रोके रहने की कुंभक पद्धति को भी आवश्यक बताया गया है, पर आधुनिक शरीर विज्ञान उसका समर्थन नहीं करता है। ऐसी दशा में यही उचित है कि कुंभक पर विशेष जोर न दिया जाए। साँस को भरपूर मात्रा में खींचने की प्रक्रिया को भली प्रकार संपन्न किया जाए। इसके बाद साँस छोड़ने का क्रम भी धीमी गति से संपन्न किया जाए, किंतु फेफड़ों में भरी हुई साँस को पूरी तरह बाहर निकाल दिया जाए। यह एक प्राणायाम हुआ, इसे स्वाभाविक एवं उपयोगी श्वांस-प्रश्वांस पद्धति भी कह सकते हैं। इससे पर्याप्त मात्रा में प्रायः दूनी ऑक्सीजन मिलने लगेगी और प्रायः दूना ही पोषण प्राप्त होगा। चेहरे पर लालिमा बढ़ती और शरीर में स्फूर्ति काम करती दिखाई पड़ेगी।

गहरी साँस लेने का अभ्यास भी एक साधना है। इसमें पुरानी आदत सबसे अधिक बाधा उत्पन्न करती है। उथली साँस लेने का ढर्रा स्वभाव का अंग हो जाता है, गहरी साँस जितने समय तक प्रयत्नपूर्वक ली जाती रहे उतनी देर तो सब कुछ ठीक रहता है, पर

जैसे ही ध्यान दूसरी ओर गया कि फिर पुरानी आदत पुराने ढर्रे पर आ जाती है और किया हुआ प्रयत्न स्वभाव का अंग बनाने के लिए वैसा प्रयत्न निरंतर जारी रखना पड़ता है। पुरानी आदत उभरते ही नये अभ्यास पर आरूढ़ होना पड़ता है। यह लड़ाई लंबे समय तक लड़नी पड़ती है, तब कहीं पूरी सफलता मिलने की बात बनती है।

दूसरा अभ्यास इससे भी अधिक शक्तिशाली यह है कि संसार भर में संव्याप्त प्राण चेतना को एक सचेतन विद्युत शक्ति मानते हुए संकल्प शक्ति के सहारे उसे साँस द्वारा खींचकर समूची सत्ता में धारण करना चाहिए। साँस लेते समय भावना की जाए कि विश्वव्यापी प्राणशक्ति साँस के साथ ही खिंचती चली आ रही है। उसे काया के कण-कण द्वारा अवशोषित किया जा रहा है, शरीर और मन ओजस्-तेजस् से भर रहा है। इसकी अनुभूति, फुर्ती और मस्ती के रूप में हो रही है, साहस उभर रहा है और पुरुषार्थ गतिशील हो रहा है—यह प्राणाकर्षण प्राणायाम है। जब भी समय खाली हो तभी मेरुदंड सीधा रखकर इसे करने लगना चाहिए। दस-दस मिनिट के चार से छह खंड हर दिन प्रयुक्त किए जा सकें तो इससे शक्ति संवर्धन की अनुभूति हाथोंहाथ होने लगेगी। कुछ दिन के अभ्यास में प्रयत्नकर्त्ता अपने में सचमुच असाधारण पुरुषार्थ प्रकट होते देखता है।

सरल प्राणायामों में तीसरा है—सोहम् साधना। साँस लेते समय 'सो', बाहर निकालते समय 'हम' की ध्वनि प्रकट होने की कल्पना करनी चाहिए। 'सो' अर्थात् वह परमेश्वर साँस के साथ अंतराल में प्रवेश करता है और अंतःचेतना के कण-कण में अपनी विशिष्टता भर देता है। साँस छोड़ते समय जो 'हम' की ध्वनि होती है उस समय सोचना चाहिए कि अपना अहंकार तिरष्कृत-बहिष्कृत होकर चिंतन और भावक्षेत्र को छोड़कर बहिर्गत हो रहा है। अहंकार मिट जाने पर आत्मसत्ता का स्वरूप 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' जैसा बन जाता है और आत्मा में परमात्मा ओत-प्रोत दृष्टिगोचर होने लगता है। उपरोक्त तीन प्राणायाम सर्वसुलभ हैं, उनके लाभ भी हाथोंहाथ दीख पड़ते हैं।

□ □

अवांछनीयताओं का प्रतिकार-प्रत्याहार

आक्रमण का प्रतिकार-प्रत्याहार आवश्यक माना गया है अन्यथा अवांछनीय तत्त्व चढ़ाई करके अपने स्वत्व अधिकार का ही अपहरण कर लेंगे। देवता शांतिप्रिय और नीतिवान् थे; वे परमार्थ-परोपकार में ही लगे रहते थे। व्यक्तित्व उत्कृष्ट एवं देवत्वमय था तो भी दानवों ने उन्हें चैन से नहीं बैठने दिया। कोई दोष या कारण न होने पर वे अवसर पाते ही आक्रमण करते रहे। क्षमा और सहनशीलता के सहारे बात टालते रहने पर भी काम नहीं चला। तब उन्हें प्रत्याक्रमण की योजना बनानी पड़ती रही। बार-बार देवासुर संग्राम होते रहे और वे विभिन्न क्षेत्रों में अभी जारी हैं।

आततायी-आतंकवादी हर क्षेत्र में भरे पड़े हैं। घात लगाने से चूकते नहीं। आवश्यक नहीं कि वे खून-खच्चर वाली लड़ाई ही लड़ें, दूसरा और भी तरीका है जिसमें व्यवहार में आघात के चिन्ह दिखाई नहीं पड़ते, पर भीतर ही रक्त चूस लिया जाता है। रोगों के विषाणु यही करते हैं, वे क्षय जैसे रोग के रूप में प्रवेश करते हैं और कुछ ही समय में समूचे शरीर पर अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। तब मरण के अतिरिक्त और मार्ग नहीं रह जाता। मजबूत शहतीर में घुन लग जाता है तो वह भीतर ही भीतर उसे खोखला करता रहता है। एक दिन ऐसा आ जाता है कि जरा-सा धक्का लगने पर वह खोखला शहतीर जमीन पर पसर जाता है।

इसी प्रकार कुविचारों का भी एक वर्ग है जो मनःक्षेत्र में निवास करता है। देर तक मानस पर छाया रहने के कारण वह ललक-लालसा बनता है, अभिलाषा-आकांक्षा का रूप धारण करता है और विचारों को कार्य रूप में परिणित होने के लिए विवश करता है। वासनाएँ-कामनाएँ, तृष्णाएँ-लिप्साएँ बीज रूप में विचार क्षेत्र में अंकुर उगाती हैं, उन्हें पोषण मिलते रहने पर तेजी से बढ़ती हैं और

अमरबेल की तरह समूचे जीवन को अपनी पकड़ में कस लेती है। कोई कृत्य अनायास ही नहीं बन पड़ता, उसकी भूमिका लंबे समय से मनःक्षेत्र में अपना ताना-बाना बुनती रहती है। जड़ पकड़ लेने पर पौधा मजबूत हो जाता है, तब वह उखाड़ने में नहीं आता है। अंकुर उगते समय उसे सरलतापूर्वक नोंचकर हटाया जा सकता है, पर परिपुष्ट होते रहकर गहराई तक जड़ें प्रवेश कर लेने पर उसे उखाड़ना सरल नहीं रहता। कुविचारों के संबंध में तो वस्तुतः यही होता है। सद्विचार तो प्रयत्नपूर्वक उगाने-बढ़ाने पड़ते हैं, पर दुष्प्रवृत्तियाँ कटीले बबूल की तरह कहीं भी जम जाती हैं और खाद पानी की परवाह किये बिना अपने आप बढ़ने लगती हैं। पीपल को परिपक्व होने में वर्षों का समय चाहिए, पर बबूल तो कुछ ही महीनों में चुभने वाले काँटों से लद जाता है। कुविचार भी ऐसे ही होते हैं।

जीवन को उज्ज्वल-उत्कृष्ट बनाना हो तो उसके लिए स्वाध्याय, सत्संग, चिंतन-मनन आदि का आश्रय लेना पड़ता है। अच्छे वातावरण और संपर्क से जुड़ना होता है, पर दुष्प्रवृत्तियाँ तो खरपतवार की तरह हर खेत में उगी रहती हैं, बिना पानी के भी हरियाली हैं। जलकुंभी की तरह उन्हें किसी जलाशय पर छा जाने में देर नहीं लगती। व्यक्तियों का समुदाय अवांछनीय प्रवृत्तियों से भरा पड़ा रहता है, कुकृत्य का सर्वत्र प्रचलन है, उनकी छूत रास्ता चलने की लगती है।

प्रतिकार न किया जाए तो अवांछनीयताएँ टिड्डी दल की तरह बढ़ती हैं। मक्खी-मच्छरों की तरह पनपती हैं और अपनी चपेट में उन्हें भी ले लेती हैं, जो चैन से रहने के इच्छुक हैं, जो किसी को नहीं सताते। इतने पर भी वे मात्र इसलिए बचे नहीं रह सकते कि वे सज्जनता निवाहते हैं, किसी को त्रास नहीं पहुँचाते। खटमल, पिस्सू, जुएँ, चूहे इस तेजी के साथ बढ़ते हैं कि यदि उनकी रोकथाम के बारे में न सोचा जाए तो उनका मंदगति आक्रमण भी अपने अस्तित्व के लिए खतरा पैदा कर देगा। चोर-उचक्कों से बेखबर रहा जाए तो कहीं भी जेब कट सकती है, कहीं भी पोटली उठ सकती है। घर के पिछवाड़े में कहीं भी सेंध लग सकती है। स्वयं चोर न होना अच्छी

बात है, पर इतने भर से चोरों के हथकंडे रुक नहीं सकते। सतर्कता से लेकर चौकीदारी तक का प्रबंध करने पर ही अपने सामान को बचाया जा सकता है।

कुविचार कुकरमुत्तों की तरह बिना बोए ही उगते हैं। जन्म-जन्मांतरों के कुसंस्कार तनिक-सी कमी पाते ही उद्भिजों की तरह उपज पड़ते हैं। सूखी घास की जड़ें पहली वर्षा होते ही धरती पर फैल जाती हैं। कूड़ा-करकट हवा के साथ उड़कर कहीं से भी आँगन में घुस पड़ता है। इस आधार पर उत्पन्न होते रहने वाली गंदगी को बुहारी से बुहारने, पानी से धोने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं आध्यात्म क्षेत्र में इसी प्रकार के प्रयत्नों को प्रत्याहार या परिहार कहते हैं।

कुविचारों से जूझने के लिए सद्विचारों की ऐसी पुलिस फौज की व्यवस्था करनी चाहिए जो आक्रामकों को देखते ही उनसे भिड़ पड़े। ऐसी बहादुरी से लड़े कि दुश्मन के पैर उखड़कर ही दम लें। लाठी का जबाव लाठी से, घूँसे का जबाव घूँसे से दिया जाता है। विष की औषधि विष ही बनाई गयी है। कुविचारों को कुकर्म के रूप में परिणत होने से पहले ही उनके छत्ते में पलने वाली विषैले डंक वाली बर्रों की बढ़त बंद कर देनी चाहिए। सड़े हुए गोबर में बिच्छू पनपे उससे पहले ही उस सड़ांध को हटाकर दूर पहुँचा देना चाहिए।

मन में जमी जन्म-जन्मांतरों की कुसंस्कारिता और वातावरण में भरी-पूरी अवांछनीयता किसी भी क्षण छूत की बीमारी की तरह आक्रमण कर सकती है। इसलिए अच्छा हो कि समय से पहले ही रोकथाम का प्रबंध कर लिया जाए। लक्षण उभरने ही लगें तब तो उपेक्षा बरतनी ही नहीं चाहिए वरन् प्रतिरोध के लिए जो आवश्यक है उसे अविलंब करना चाहिए और उसके दमन में पूरी कठोरता बरतनी चाहिए।

कुविचार तब पनपते हैं जब उन्हें विरोध का सामना नहीं करना पड़ता। जहाँ सुरक्षा की दीवार कमजोर दीखती है वहीं कच्चे मोर्चे पर दुश्मन हमला करता है। यदि सुरक्षा पंक्ति समय रहते मजबूत बना ली जाए, सद्विचारों का भंडार इतना भर लिया जाए कि उस

भरी तिजोरी में कुविचारों को कहीं से प्रवेश ही न मिल सके। यदि किसी प्रकार किसी सीमा तक वे घुस ही पड़े तो उपेक्षा बरतने, जो हो रहा है, उसे होने देने की ढील तो देनी ही नहीं चाहिए। खूनी साँड़ सामने से दौड़ा आ रहा हो तो प्रतिकार में एक लाठी लेकर उसे खदेड़ा जाए या फिर भागकर किसी ऐसी आड़ में छिपा जाए कि पैने सींगों से बचाव हो सके। कुकर्म का अवसर चुका देना—भाग खड़े होने जैसी बुद्धिमत्ता है, पर यदि समय हो तो कुविचारों को सद्विचारों के पक्षधर तर्कों-तथ्यों, प्रमाणों-उदाहरणों से इस प्रकार चुनौती देनी चाहिए कि उन्हें हार ही माननी पड़े। भविष्य के लिए निर्लिप्तता अर्जित होने का यही चिरस्थायी तरीका है। कुविचारों को परास्त करने उन्हें दुष्कर्मों के रूप में परिणित होने देने से पहले ही यदि कमर कस ली जाए तो समझना चाहिए कि भविष्य को अंधकार के गर्त में गिराने वाले कुयोग से पीछा छूटा।

कोई अचानक कुकर्मी नहीं होता, उस पर पहले ही कुविचारों का आक्रमण होता है। इन उगते लक्षणों को देखकर ही सतर्क हो जाना चाहिए। समर्थन जैसा कुछ मिलने लगने पर तो उसे तिल से ताड़ बनते देर नहीं लगती। जिसके मन में अचिंत्य चिंतन आश्रय पाता है, उसे उस स्थिति तक पहुँचते देर नहीं लगती, जिसमें दुर्व्यसनों का, दुष्प्रवृत्तियों का घेरा घिरता चला जाए और फिर उस शिकंजे से छुटकारा पा सकना कठिन हो जाए।

गीता का महाभारत मात्र द्वापर में कुरुक्षेत्र के मैदान में ही नहीं लड़ा गया, उसे हर व्यक्ति को अपने चिंतन और चरित्र की आत्मरक्षा के लिए हर किसी को निरंतर लड़ना पड़ता है। अर्जुन को शिथिल पड़ते देखकर कृष्ण ने उसे युद्धरत होने के लिए प्रोत्साहित किया, उस प्रोत्साहन का तत्त्वदर्शन ही गीता का ज्ञान है। यह जीवन में विजयश्री वरण करने का पहला चरण है। इस प्रत्याहार-परिष्कार में संघर्षरत होने का साहस दिखाए बिना कोई उस स्थिति तक पहुँच नहीं सकता जिसमें अंतराल को परमात्मा तक पहुँचाने का लक्ष्य प्राप्त होता है। जिसमें लौकिक प्रगति और प्रामाणिकता का श्रेय सम्मान एवं संतोष भी सम्मिलित है।

उत्कर्ष के लिए आवश्यक धर्म-धारणाएँ

धारणा अर्थात् अंतःकरण की गहराई में धर्म-धारणाओं को स्थापित करना। देखा जाता है कि मनुष्य कटी पतंग की तरह हवा के झोंकों के साथ दिशा बदलता रहता है। शरीरगत वासनाएँ और मनोगत तृष्णाएँ ही हर घड़ी सवार रहती हैं, उन्हीं की पूर्ति के लिए निरंतर ताना-बाना बुनने में लगा रहता है, उन्हीं के लिए खटकता और पिसता रहता है। कुछ सफलताएँ उपलब्ध हुईं तो अहमन्यता का भूत सवार होता है, दूसरों पर दर्प जमाने के लिए ठाट-बाट रोपता और अपव्यय तथा आतंक की नीति अपनाकर अपने को बड़ा सिद्ध करने के प्रयासों में लगा रहता है। इन्हीं विडंबनाओं में उलझते-सुलझते जीवन का अंत हो जाता है।

जिनकी अपनी निजी धारणाओं में विवेकशीलता जुड़ी हुई है ऐसे कम लोग ही दीख पड़ते हैं। अधिकांश तो लकीर के फकीर होते हैं, प्रचलनों का अनुकरण करते रहते हैं। कुरीतियाँ चाहें कितनी ही अहितकर-अनुपयुक्त क्यों न हों—संगी-साथियों के द्वारा अपनाए जाने पर अपने लिए भी अनुकरण का विषय बन जाती हैं। अनुकरण प्रियता मनुष्य का स्वभाव है पर इस क्षेत्र में भी वह सोचा जाना चाहिए कि क्या दृढ़तापूर्वक अपनाया जाए—यह भी पूर्व निर्धारण के अभाव में ठीक तरह नहीं बन पड़ता। परिस्थितियों के अनुरूप विचार ही नहीं आचरण भी बदलते रहते हैं। अवसरवादिता ही नीति बनकर रह जाती है, बेपैंदी के लोटे की तरह जहाँ भी जिस प्रकार भी स्वार्थ सिद्ध होता दीखता है उधर ही अपने को बदल लेते हैं। वातावरण को अपने ढाँचे में ढाल सकने की मनःस्थिति तो किन्हीं बिरलों में ही होती है। अधिकांश परिस्थितियों के अनुरूप अपना मन बदलते रहते हैं, तितली की तरह आकर्षण के प्रलोभन में इस फूल से उस फूल पर उड़ते-फिरते हैं। उनका अपना कोई लक्ष्य, निर्धारण या गंतव्य

नहीं होता, इस प्रकार के व्यक्तियों की न कोई दिशाधारा होती है और न सुनिश्चित क्रिया-पद्धति। परिस्थितियाँ ही उन्हें हवा के झोंके की तरह जहाँ-तहाँ लिए फिरती है। ऐसी दशा में न कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नियमित रूप से करते बन पड़ता है और न किसी सराहनीय सफलता का श्रेय उन्हें मिल पाता है।

प्रेरणाएँ अंतःकरण से उभरती हैं, उन्हीं के आधार पर विचारणा काम करती है। योजना बन पड़ती है और इच्छा की पूर्ति करने के उद्देश्य से क्रिया चल पड़ती है। इसलिए इच्छाओं की पूर्ति ही जीवन का स्वरूप बनकर रह जाती है। परिस्थितियों के साथ तालमेल बिठाकर व्यक्ति स्वार्थ साधनों के प्रयत्नों में लगे रहकर अपना आयुष्य बिता देता है। जिनका कोई उद्देश्य नहीं होता उनसे कुछ क्रमबद्ध रूप से करते-धरते भी नहीं बन पड़ता—इस स्थिति को एक प्रकार से निष्फल जीवन ही कह सकते हैं। जितनी महत्त्वपूर्ण क्षमताएँ उसे उपलब्ध हुई हैं उनकी तुलना में शतांश भी वैसा कुछ नहीं होता जिस पर कि संतोष किया जा सके। उत्साहपूर्वक जिसका उल्लेख हो सके।

इस उथले स्तर के जीवनयापन के पीछे एक ही कमी काम करती है, वह है—अंतःकरण में आदर्शवादी आस्थाओं का अभाव। यदि उपलब्ध सुरदुर्लभ अवसर का महत्त्व समझा जा सके और उसे महत्त्वपूर्ण कामों में लगाने का निर्धारण किया जा सके तो फिर आदर्शों की उत्कृष्टता से अंतराल को सरावोर करने की बात ही प्रमुख होती है। इसके लिए उसी स्तर का स्वाध्याय, सत्संग, वातावरण एवं सहयोग तलाशना पड़ता है। इस घेराबंदी में ही किसी उच्चस्तरीय दिशधारा को दृढ़तापूर्वक अपनाना पड़ता है। संकल्प उभरता है, मार्ग बनता है और उस पर दृढ़तापूर्वक चल पड़ना संभव होता है अन्यथा मन की चंचलता ही प्रधान बनकर रह जाती है। उस बंदर-वृत्ति से कौतुक-कौतूहल की होते रहते हैं, कुछ ऐसा नहीं बन पड़ता जिसे अनुकरणीय कहा जा सके, सराहा जा सके और उसका अनुकरण करने की किसी के मन में उमंग उठ सके।

मनुष्य जीवन महान् सृजेता की महान् कलाकृति है। उसे पेट प्रजनन जैसे पशु प्रयोजनों में ज्यों-त्यों करके पूरा कर लेना ही वह कार्य नहीं है जिसे कर्मयोग कहा गया है और जिसके द्वारा कर्मरत होते हुए भी चरम लक्ष्य तक पहुँच सकना संभव भी हो सकता है।

शारीरिक कृत्यों का स्वरूप दृष्टिगोचर तो होता है, प्रस्तुत की गयी घटनाओं का वर्णन होता है, पर पर्दा उठाकर देखा जाए तो प्रतीत होगा कि घड़ी के अनेक पुर्जे जो एक-दूसरे के सहयोग से कार्यरत हो रहे हैं, उसके पीछे फिनर वाली चाबी ही काम करती है। चाबी भरी होती है तो घड़ी के पुर्जे चलते रहते हैं अन्यथा वे भावनात्मक प्रेरणा के अभाव में शिथिल पड़ते-पड़ते सो जाते हैं। आगे धकेलने का जो काम फिनर वाली चाबी करती है, उसी प्रयोजन की पूर्ति मानव जीवन में धारणाओं के द्वारा बन पड़ती है।

आदर्शवादी उन मान्यताओं को धर्मधारणा कहते हैं। जिनमें निश्चय से पूर्व तो उसकी गहराई पर गंभीरतापूर्वक विचार कर लिया जाए। सभी शंका-कुशंकाओं पर विचार हो ले किन्तु जब निष्कर्ष निकाल ही लिया जाए तो उसे सुदृढ़ विश्वास के रूप में हृदयंगम किया जाना चाहिए। उसकी पूर्ति के लिए जितना बन पड़े नित्य कुछ न कुछ करना चाहिए। विश्वासों में क्रिया से बल मिलता है अन्यथा प्रयोजन में न आने वाले विचार कल्पना मात्र बनकर रह जाते हैं और प्रवाह के साथ जिधर से विधर चले जाते हैं। स्थायित्व लाना हो, मंतव्य सुनिश्चित और सुदृढ़ करना हो तो आवश्यक है कि संकल्पों को ध्यान में रखा जाए और उन्हें कार्य रूप में परिणित करने का जो भी अवसर सामने आए उसे हाथ से न जाने दिया जाए। कर्तृत्व स्वभाव का अंग बन जाता है तो आदतें उस प्रकार के क्रिया-कलाप के लिए अवकाश भी प्राप्त कर लेती हैं और अवसर भी निकाल लेती हैं।

व्यक्तित्व को विश्वास बनाता है। यों अधिकांश लोग अनास्थावान् होते हैं, वे तार्किक दृष्टि से किसी भी विषय का धुँआधार प्रतिपादन कर सकते हैं, पर जब उन्हीं सिद्धांतों को निजी जीवन में कार्यान्वित करने का अवसर आता है तो अपने ही प्रतिपादनों को भूल जाते हैं

और वह सब करने लगते हैं जिनका भावना के उभार में स्वयं ही खंडन करते रहे हैं।

मान्यताएँ भावना क्षेत्र की गहराई में उगती हैं, पर वे चिरस्थायी रहती हैं। वस्तुतः जीवन में जो कुछ महत्त्वपूर्ण है वह सब आस्थाओं के ऊपर निर्भर है। अपने को उत्कृष्ट-निकृष्ट, दुर्बल मान बैठना अपने विश्वासों के ऊपर ही अवलंबित है। यात्रा पर जीवन जीने वाले घुमंतू गाड़ी वाले अपने उस ढर्रे को अपनाए रहकर दूसरों की तुलना में कहीं अधिक कठिनाइयाँ स्वीकार करते हैं, पर वे सुविधा-साधन मिलने पर भी उस रीति-नीति को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते हैं। उनका कहना है कि वे मेवाड़ के राणा की संतानें हैं जब तक दिल्ली पर राणाओं का झंडा न फहरायेगा तब तक इसी स्थिति में भ्रमण करते रहेंगे। यद्यपि अब उनके उस कथन का कोई तात्पर्य नहीं रहा, फिर भी विश्वास तो विश्वास जो ठहरा। वह मनुष्य का सबसे समर्थ तत्त्व है। मान्यताओं के आधार पर ही मनुष्य कष्टसाध्य जीवन जी सकता है। सामने प्रस्तुत अन्य सुविधाओं को सहज ही ठुकरा सकता है। कुमारियाँ अपना कौमार्य व्रत और विधवाएँ अपना वैधव्य इसी आधार पर भली प्रकार निवाह लेती हैं। न्यायनिष्ठ-परोपकारी ईमानदार स्तर के व्यक्ति अनेक आकर्षणों और दबावों के आगे न झुककर अपनी प्रतिज्ञाओं पर आरूढ़ बने रहते हैं, प्रतिकूलताएँ उन्हें उस व्रत से डिगा नहीं पातीं।

धारणाएँ-आस्थाएँ तभी सराहनीय बनती हैं जब वे आदर्शवाद के साथ जुड़ी हुई हों अन्यथा दुर्व्यसनी भी हेय स्तर की मान्यताएँ बनाए रहते हैं। दुराग्रही भी यही करते रहते हैं, दीन-हीनों में से अनेक लोग अपना भाग्य मान लेते हैं और उसमें सुधार लाने के प्रयत्न छोड़ बैठते हैं। धारणाए अंधविश्वास भरी हो सकती हैं, पर जिन्हें अध्यात्म मार्ग में सहायक माना गया है। वे आस्तिकतावादी, अध्यात्मवादी और धर्मावलंबी मान्यता ही हैं। इन्हीं के सहारे ऊँचा उठा और आगे बढ़ा जा सकता है।

❐ ❐

सर्वोपयोगी ध्यान धारणा

मनुष्य अनेक कल्पनाएँ करता है। कई आदर्शों को अपनाने की बात सोचता है, कई निर्माणों को आवश्यक मानकर उनके निमित्त पुरुषार्थ का प्रयास भी करता है, पर देखा गया है कि उच्चस्तरीय प्रयोजनों का उत्साह थोड़े से ही समय में ठंडा पड़ जाता है। जो उमंगें उठी थीं वो उठने वाले बबूलों की तरह समाप्त हो जाती हैं। उच्चस्तरीय प्रयोजनों के लिए उठने वाला उत्साह प्रायः शिथिल होते-होते समाप्त हो जाता है, पर अवांछनीय दिशा में उठाए गए कदम सहज विस्मृत नहीं होते, वे अपनी जगह दृढ़तापूर्वक जमे रहते हैं। नशेबाजी की लत एक बार लग जाने पर फिर उससे पीछा नहीं छूटता। तलब उठती है तो बेचैन कर देती है, मस्तिष्क भी उसी प्रिय पदार्थ को पाने के लिए ताने-बाने बुनता रहता है, चैन तब लेता है जब अभीष्ट को हस्तगत कर लिया जाता है।

किंतु उत्कृष्ट स्तर के निर्धारणों में यह प्रक्रिया कम ही चलती है। पानी ढलान की ओर सहज ही बहता है, वस्तुएँ ऊपर से नीचे की ओर गिरती हैं। यह कार्य तो धरती की गुरुत्वाकर्षण शक्ति ही कर लेती है, पर किसी वस्तु को ऊँचा उछालना हो तो उसके लिए अतिरिक्त शक्ति लगानी पड़ती है। आदर्शों का परिपालन ऐसा ही उच्चस्तरीय प्रयास है, जिसके लिए विशेष रूप में प्रेरणाप्रद प्रयत्न करने पड़ते हैं।

ऐसे प्रयत्नों में 'ध्यान' का बहुत महत्त्व है, वह विस्मरणजन्य कठिनाइयों की रोकथाम करता है। विस्मृतियाँ उपयोगी भी हैं, उसके कारण शोक-विछोह जैसे आघात क्रमशः हल्के होते जाते हैं। लोग पिछली बातों को भूलकर नई जानकारियों को स्मृति-पटल पर अंकित करते जाते हैं। यदि ऐसा न होता तो सिलेट पर एक ही हिसाब सदा लिखा रहता। पुराने को मिटाकर ही उस पर नया अंकित किया जाता है—यह लोकोचार है।

आदर्शों के क्षेत्र में प्रवेश न करने का महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि मन संसार के मेले में भ्रमित होकर मूल अवलंबन को विस्मृत कर देता है। नए-नए आकर्षक जाल-जंजालों में फँस जाता है। ऐसी दशा में यही उपयुक्त है कि आदर्शों के परिपालन को, कर्त्तव्यों के निर्वाह की बात की प्रमुखता दी जाए और उसका बार-बार स्मरण करते रहकर विस्मृति जैसा कुयोग न बनने दिया जाए।

द्वेष-दुर्भावों को भुला दिया जाए इसकी तो कुछ तुक है किंतु जिन आधारों पर जीवन का उत्कर्ष-अभ्युदय अवलंबित है, उन्हें तो प्रयत्नपूर्वक स्मृति-पटल पर अंकित किया जाता रहना चाहिए। इसका सरल उपाय यह है कि उसे दिनचर्या का अविच्छिन्न अंग बना लिया जाए। जो काम नित्य किए जाते हैं उनकी आदत पड़ जाती है और नियत समय उन्हें पूरा करने की एक बेचैनी उठती है। शौच, स्नान, भोजन और शयन आदि की स्मृति नियत समय पर अनायास ही उठती हैं और जब तक वह कार्य पूरा न हो जाए तब तक शांति नहीं मिलती। ठीक इसी आधार पर आत्म-चिंतन को भी दिनचर्या का अविच्छिन्न अंग बनाया जाना चाहिए। इसी को ईश्वर स्मरण, पूजा-पाठ, दैनिक उपासना, संध्या-वंदन आदि नामों से जाना जाता है।

वस्तुतः ईश्वर को किसी की खुशामद या रिश्वत की रत्तीभर भी आवश्यकता नहीं है। उस पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अनुशासन में चलना, मर्यादाओं को अपनाना, वर्जनाओं से बचना यही ईश्वर साधना है। सादगी, सुचिता, संयम, सेवा प्रयासों को जीवन व्यवहार के साथ जोड़कर ईश्वर उपासना का प्रयोजन भली प्रकार पूरा हो जाता है। सृष्टि के इतने जीवधारी हैं कोई पूजा-पाठ नहीं करता। इन दिनों आधी आबादी नास्तिक वर्ग की है, उन्हें न ईश्वर की मान्यता के प्रति विश्वास है और न पूजा-पाठ से संबंध। फिर भी ईश्वर उन सबका भरण-पोषण और अनुदान-सहयोग निरंतर करता रहता है। इससे स्पष्ट है कि ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए नहीं वरन् अपने आत्मशोधन की प्रक्रिया पूरी करने के लिए उपासना करनी होती है। उसकी यथार्थता इसी में है कि आदर्शों के परिपालन तथा कर्त्तव्यों के निर्वाह में कहीं चूक न होने पाए। इसका ध्यान

उपयुक्त समय पर किया जाए, उसमें चूक न होने दी जाए। जब हर दिन कमरे में बुहारी लगती है, नहाने, कपड़े धोने, रसोई बनाने आदि का क्रम बिना नागा चलता है तो ईश्वर-आराधना की प्रक्रिया भी नियमित रूप से बिना नागा की जाती रहे।

ईश्वर को हमारी पूजा की आवश्यकता भले ही नहीं, पर हमें उसका प्रयास नित्य-नियमित रूप से करना चाहिए। यह हमारी व्यक्तिगत आवश्यकता है, जिसके बिना आत्मोत्कर्ष के मार्ग में भारी व्यवधान होता है।

उपासनात्मक अनेकों क्रिया-कलापों में ध्यान-धारणा ऐसी है जिसे उपेक्षित नहीं किया जाना चाहिए। ध्यान भी कई प्रकार के हैं उनमें से अधिकांश में ईश्वर की छवि की कल्पना की जाती है, साथ ही उसके सान्निध्य की अपेक्षा भी। इस सही प्रक्रिया के साथ इतना और जोड़ना चाहिए कि परमात्मा और आत्मा के अविच्छिन्न संबंध को स्मरण रखा जाए, उसे सर्वव्यापी न्यायकारी माना जाए। मानव जीवन प्रदान करने की अनुकंपा और उसके साथ जुड़ी हुई जिम्मेदारी को एक क्षण के लिए भी भुलाया न जाए। स्मरण के लिए यह तारतम्य भी जुड़ा रखा जाए कि जो आत्मिक प्रगति के लिए आवश्यक है उसका निर्वाह बिना प्रयास के किया जाता रहे। यह सब ठीक तरह हो रहा है या नहीं—इसके लिए चिंतन-मनन किया जाता है। वस्तुतः आत्म-सुधार और आत्म-परिष्कार की प्रक्रिया जिस आधार पर पूरी होती है वही सच्चा भजन एवं ध्यान है।

जीवन के स्वरूप, उद्देश्य एवं सदुपयोग का तालमेल अपनी विचारणाओं एवं गतिविधियों के साथ ठीक प्रकार बैठ रहा है या नहीं ? इसका ध्यान हर घड़ी रहना चाहिए। जहाँ चूक चल रही हो उसे सँभालने-सुधारने की चेष्टा सतर्कतापूर्वक की जानी चाहिए। ऐसा न हो कि इस संदर्भ में उपेक्षा चल रही हो और चिंतन में भ्रष्टता का, चरित्र में दुष्टता का अनुपात बढ़ता जा रहा हो। जो सब करते हैं उसी का अनुकरण किया जा रहा हो। अधिकांश व्यक्ति प्रमाद में समय गुजारते और अकरणीय कृत्य के अभ्यस्त होते हैं। उनसे अपनी पहचान अलग रहनी चाहिए। नर-पशुओं के झुंड में उन्हीं का

एक सदस्य बनकर रहा गया तो यह मानवी गरिमा का संरक्षण कहाँ हुआ ? अपना स्तर घटिया तो नहीं बनता जा रहा है, इसकी जाँच-पड़ताल हर घड़ी ध्यानपूर्वक होती रहनी चाहिए।

ध्यान की एक प्रक्रिया एकाग्रता साधना के लिए की जाने वाली कसरत की तरह भी है। चंचल मन को बाहर जैसी उछल-कूद करते रहने, अपनी शक्ति गँवाने की छूट नहीं मिलनी चाहिए। असंयम को जीवन के किसी भी पक्ष पर हावी नहीं होने देना चाहिए। इंद्रिय संयम, अर्थ संयम, समय संयम और विचार संयम का घेरा बनाकर रहने से शक्तियों का अपव्यय रुकता है, एकाग्रता सधती है और मन को ज्ञान साधना एवं भाव साधनाओं की उच्चस्तरीय या महामानव के चित्र पर चित्त जमाकर उसके साथ तन्मय होने की भाव साधना भी ध्यान कहलाती है। ऐसा आए दिन कई-कई बार करते रहने से मनोनिग्रह की सिद्धि मिलती है। निग्रहीत मन वाला लक्ष्य के साथ तन्मयता अपनाकर बड़ी-बड़ी सफलताएँ प्राप्त करता है।

एक ध्यान संचय का है। इसके लिए उदीयमान स्वर्णिम सूर्य को ध्यान का माध्यम बनाया जाना चाहिए। आँख बंद करके भावना करनी चाहिए कि प्रभातकालीन उदीयमान सूर्य की किरणें अपने शरीर पर पड़ रही हैं। शरीर को बल, मस्तिष्क को ज्ञान और हृदय को भाव-संवेदनाओं से भर रही हैं। नाभिचक्र को स्थूल शरीर का, हृदय को सूक्ष्म शरीर का, मस्तिष्क मध्य ब्रह्मरंध्र को कारण शरीर का केंद्र बिंदु माना गया है। इन तीनों में सूक्ष्म स्तर की तीन ग्रंथियाँ हैं जिन्हें कमल भी कहते हैं। सूर्य के उदय होने पर कमल खिलते हैं और सुगंध तथा सोम से समूचे क्षेत्र को भर देते हैं। यह ध्यान प्रातःकाल किया जाना चाहिए। तीनों कमल चक्रों को त्रिविधि शरीरों के केंद्र बिंदुओं को विकसित होने की भावना करनी चाहिए। यह साधना-प्रक्रिया तीनों शरीरों को विकसित करती है, उन्हें ओजस्, तेजस् एवं वर्चस् से सरावोर करती है।

ध्यान की अनेकों विधियाँ हैं और उनके विभिन्न स्तर के प्रयोजन भी हैं। उनमें से उपरोक्त तीन ऐसे हैं जिन्हें सर्वसुलभ और सर्वोपयोगी कहा जा सकता है।

□ □

समाधि मात्र कोतूहल नहीं है

अष्टांग राजयोग का अंतिम चरण है—'समाधि'। यह बुद्धि की चंचलता एवं विडंबना को श्रेष्ठ सम्यक् बनाने से प्राप्त हुई सफलता है। 'धी' बुद्धि को कहते हैं। सम अथवा सम्यक् कहते हैं—स्थिर एवं सन्मार्गगामी को। यह बन पड़े तो समझना चाहिए कि देव जीवन में प्रवेश पाने की भूमिका बन गयी।

मन कल्पनाएँ करता रहता है। उसकी तरंगें ललक-लिप्साओं पर आधारित होती है, उनमें से अधिक बेतुकी और असंगत होती हैं। बुद्धि की सत्ता निरीक्षण-परीक्षण का काम करती है। जो संभव है, जो व्यावहारिक है उसे रोक लेती है और शेष अनगढ़ उड़ानों को अपने रास्ते चले जाने देती है। कल्पनाएँ तो विक्षिप्त उन्मत्त भी करते रहते हैं, पर बुद्धिमान उन्हें सुव्यवस्थित करते हैं। जो बे सिर-पैर की हैं, कार्यान्वित होने वाली नहीं हैं; वे कुछ देर मन रूपी बालक को रंगीले खिलौनों से खिलाकर अपनी राह चली जाती हैं। इनमें से कुछ कुकल्पनाएँ होती हैं, उनके साथ भय-आशंका, आक्रोश-आवेश जैसे अवांछनीय तत्त्व जुड़े होते हैं। वे डराती भी रहती हैं और कई बार कुमार्ग पर चलने की प्रेरणाएँ भी देती हैं। मनःक्षेत्र में यही धमा-चौकड़ी चलती रहती है, मन में बेतुकी तरंगें उठती हैं। उनमें से जो सारगर्भित दीखती हैं, उन्हें बुद्धि पकड़ती है और संभावनाओं पर विचार करती रहती है। जिन्हें वह लाभदायक मानती है उन पर विचार करना आरंभ कर देती है। अधिक काट-छाँट करने के बाद उसे जो व्यावहारिक प्रतीत होता है उसका ताना-बाना गढ़ती है, साधन सरंजाम जुटाने वाले ताने-बाने बुनती है—आए दिन यही क्रम चलता रहता है। अनेक गढ़ने पर उनमें से कुछ ही ऐसी होती हैं जो कार्य रूप में परिणत हो पाती हैं और सफलता के स्तर तक पहुँचती हैं। यह प्रक्रिया नैतिक ही हो यह आवश्यक नहीं, उनमें से कितनी ही

ऐसी होती हैं जो अनैतिक, अव्यवहारिक एवं दुष्परिणाम उत्पन्न करने वाली होती हैं। बुद्धि की तीक्ष्णता एक बात है और जो श्रेयस्कर है उसी में हाथ डालना दूसरी। तथाकथित बुद्धिमान छल-प्रपंच भी रचते रहते हैं और ऐसे कृत्य भी करते रहते हैं, जिनके कारण अपयश पाना और संकटों में उलझना पड़े। जेल में बंद कैदी प्रायः इसी स्तर के होते हैं।

किन्हीं विरलों की बुद्धि मान सरोवर के राजहंसों जैसी भी होती है। उन्हें नीर-क्षीर, विवेक में प्रवीणता प्राप्त होती है, उसकी चोंच दूध पीती और पानी छोड़ देती है, मोती बीनती और कीड़े छोड़ देती है। इस संसार में सब कुछ घुला-मिला है। हर क्षेत्र में बुराइयों और भलाइयों का सम्मिश्रण पाया जाता है। यह अपनी समझ पर निर्भर है कि दोनों में से किसका चयन किया जाए ? भौंरे पुष्पों पर मँड़राते हैं, जबकि गोबर में पलने वाले कीड़े कहीं न कहीं गंदगी तलाश लेते हैं और उसी में धँसकर मोद मनाते हैं।

राजहंस का अनुकरण करने वाली बुद्धि को मेधा या प्रज्ञा कहते हैं। जो मात्र ब्रह्मभाव में रमण करती है उसे भूमा कहते हैं। इन्हें दृष्टिकोण की भिन्नता भी कहा जा सकता है, दूरदर्शी विवेकशीलता की सूझबूझ भी—यही ब्रह्म-परायण भी है और धर्म चेतना भी योग विज्ञान की दृष्टि से इसे 'समाधि' की संज्ञा दी जाती है। बुद्धि की उत्कृष्टता का यही चिन्ह है कि वह उत्कृष्ट को ही चिंतन क्षेत्र में स्थान दे। आदर्शयुक्त कार्यों को ही आचरण में उतरने दे, किसी के साथ भी ऐसा व्यवहार न होने दे जो मानवी गरिमा की दृष्टि से हेय पड़ता हो।

❑ ❑

मुद्रक : युग-निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)